THE LIBRARY
BRIGHAM YOUNG UNIVERSITY
PROVO, UTAH

Rare!
68

Digitized by the Internet Archive
in 2020 with funding from
Brigham Young University

https://archive.org/details/geschichtevomkam00bern

# ALOYS REDING

Schweizerischer Landes Hauptmann

Geboren den 6. Merz 1765.

949.47
Z 89

# Geschichte

vom

# Kampf und Untergang

der

schweizerischen

# Berg- und Waldkantone,

besonders

des alten eidsgenössischen Kantons Schwyz.

Von

Heinrich Zschokke.

Regierungsstatthalter des K. Basel.

---

In vier Büchern.

Mit dem Porträt des Alt-Landshauptmanns Reding und einer Karte.

---

Bern und Zürich 1801.

in der H. Geßnerschen Buchhandlung.

THE LIBRARY
BRIGHAM YOUNG UNIVERSITY
PROVO, UTAH

# Vorbericht.

Die Geschichte, welche ich, in diesem Buche, der Welt mittheile, ist unmittelbar aus den Original-Urkunden, und den Berichten noch lebender Augenzeugen geschöpft. — Theils mein langer Aufenthalt im Kanton Waldstätten, (den ehmahligen Kantonen Schwyz, Zug, Uri und Unterwalden), wohin mich das helvetische Direktorium als seinen Regierungs-Commissär im Jahre 1799 gesandt hatte, theils meine persönliche Freundschaft, deren ich, längst vor der Revolution, mit einigen der würdigsten Männer jener Gegenden gepflogen, sezten mich in den Stand, etwas

Vollständiges, als Beitrag zur Geschichte der schweizerischen Staatsumwälzung, zu liefern.

Sowohl, weil unter allen Berg- und Waldkantonen Schwyz die Seele der Unternehmungen gegen Frankreichs Uebermacht ward, mehr durch Kraft, denn durch eidsgenössischen Rang; als auch, der Einheit in der Erzählung willen, beschränkte ich mich besonders auf die Schilderung von diesem, und knüpfte ich an den Gang seiner Thaten den der Nachbaren.

Heinrich Zschokke.

# Liste

der

## im Kampf fürs Vaterland Umgekommenen und Verwundeten.

### Todte von Schwyz.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Major Benedikt Bellmont, | 1 | 2. |
| 2. Hauptmann Jos. F. Schilter, | 1 | 2. |
| 3. Jos. Leonard Marti, | - | - |
| 4. Wachtmeister Dom. Richle, | 1 | 1. |
| 5. Joseph Jonas Holdener, | 1 | 1. |
| 6. Casp. Dom. Steiner, von Oberdorf, | - | - |

| | Hinterlassene | Frau | Kind. |
|---|---|---|---|
| 7. | Jos. Franz Schorno, | = | = |
| 8. | Wachtmeister Franz Phil, | = | = |
| 9. | Jos. Aloys Schibig, | = | = |
| 10. | Dom. Ceberg, Kanonier, | 1 | = |
| 11. | Jos. Carl Dom. Fäßler, | 1 | 5. |
| 12. | Jos. VonEü, im Hospital in Zürich, | = | = |
| 13. | Dom. Betschart, von Ried, | = | = |
| 14. | Jos. Marti Ant. Holdener, | = | = |
| 15. | Franz Carl Sutter, | 1 | 4. |
| 16. | Jos. Dom. Horat, | = | = |
| 17. | Jörg Zeno Fuster, | = | = |
| 18. | Jos. Dom. Kitt, | 1 | = |
| 19. | Jos. Dom. Schatt, | = | = |
| 20. | Jos. Carl Seb. Ehrler, | = | = |
| 21. | Jos. Carl Bücheler, | = | = |
| 22. | Casp. Leonard Bizener, | = | = |
| 23. | Aloys Kaly, an den Wunden gestorben, | = | = |
| 24. | Jos. Franz Richmuth, | 1 | 3. |

## Verwundete von Schwyz.

| | | Frau | Kind. |
|---|---|---|---|
| 1. | Heinrich Schuler, | 1 | 2. |
| 2. | Peter Fäßler, | = | 3. |
| 3. | Carl Martin Gämsch, | = | = |
| 4. | Johann Dom. Marti, | = | = |

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 5. Carl Dom. Bizener, | " | " |
| 6. Joseph Blaser, | " | " |
| 7. Franz Blaser, | 1 | 2. |
| 8. Joseph Ott, ab der Burg, | " | " |
| 9. Franz Schorno, Oberschönenbuch, | " | " |

## Todte von Arth.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Mart. Leonz Eberhart, | 1 | " |
| 2. Johann Jos. Kamer, | 1 | 5. |
| 3. Jos. Zeno Aloys Heinzer, | 1 | 1. |
| 4. Seb. Ant. Aloys Faßbind, | " | " |
| 5. Rudolph Kenel, | " | " |
| 6. Johann Leonard Weber, | " | " |
| 7. Jos. Steiner, zwei Brüder am Schatten-berg beim Einzug. | " | " |
| 8. Aloys Steiner, | " | " |
| 9. Gottfried Mettler, | " | " |
| 10. J. Balz Bizener, | " | " |
| 11. Franz Ant. Eichorn, | " | " |

## Verwundete von Arth.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Dominy Marti, | " | " |
| 2. Jos. Philipp Beler, | 1 | 6. |

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 3. Jos. Aug. Richenbacher, | " | " |
| 4. Meinrad Kamer, | " | " |
| 5. Franz Felklin, | " | " |
| 6. Blasy Richenbacher, | " | " |
| 7. Jos. Franz Hospital, | " | " |
| 8. Melch. Anton Burgi, | " | " |
| 9. Jos. Joch. Hublin, | " | " |
| 10. Leonard Fridolin Abegg, | " | " |

## Todte von Steinen.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Dom. Anton Abegg, | 1 | 3. |
| 2. Jos. Carl Büeler, | 1 | 5. |
| 3. J. Seb. Annen, | 1 | 4. |
| 4. Carl Dom. Ulrich, | 1 | " |
| 5. Marti Justus Frieß, | 1 | " |
| 6. Joseph Abegg, | " | " |
| 7. Jos. Marti Städeli, | " | " |
| 8. Jos. Leonard Beler | " | " |
| 9. Jos. Leonard Fäßler, | " | " |
| 10. Jacob Leonard Betschart, | " | " |
| 11. Joseph Bernard Sutter, | " | " |
| 12. J. Leonard Apert, | " | " |
| 13. Melch. Felklin, | " | " |

## Verwundete von Steinen.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Casp. Annen, | 1 | " |
| 2. Jacob Anton Ulrich, | 1 | " |
| 3. Anton Wiget, | 1 | " |
| 4. Joseph Rühle, | " | " |
| 5. Zeno Betschart, | " | " |
| 6. Joseph Hurler, | " | " |
| 7. F. Jos. Annen, | " | " |
| 8. Dom. Schuler, | " | " |
| 9. Jacob Schuler, | " | " |
| 10. Leonard Murer, | " | " |
| 11. Meinrad Schuler, | " | " |

## Todte von Muttathal.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Johann Jos. Föhn, | " | " |
| 2. Jos= Leonard Schelbert, | " | " |
| 3. Seb. Heinr. Sutter, | " | " |
| 4. Jos. Ant. Schelbert, | " | " |
| 5. Peter Jos. Aloys Betschart, | " | " |
| 6. Jos. Marti Ulrich, | " | " |
| 7. Jacob Zeno Gwerder, | " | " |
| 8. Jos. Leonard Gwerder, | 1 | " |
| 9. Jos. Leonard Ulrich, | 1 | 2. |

## Verwundete von Muttathal.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Jacob Jos. Schmidig, | " | " |
| 2. Jos. Ant. Gwerder, | " | " |
| 3. Jos. Zeno Aloys Föhn, | " | " |
| 4. Jos. Leonard Betschart, | 1 | 3. |
| 5. Jos. Bernard Sutter, | " | " |
| 6. J. Ant. Aloys Heinzer, | " | " |
| 7. Jos. Rudolph Ant. Richbach, | " | " |

## Todte von Illgau.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Felix Ant. Betschart, | " | " |
| 2. Balz Heinzer, | " | " |

## Verwundete von Illgau.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Paul Betschart, | 1 | 4. |
| 2. Felix Ant. Heinzer, | " | " |
| 3. Jos. Franz Horat, | " | " |
| 4. Jos. Heinzer, | 1 | " |

## Todte von Iberg.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Thomas Marti, | 1 | 7. |

## Verwundete von Iberg.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Jos. Anton Sutter, . . | = | = |
| 2. Franz Anton Waldvogel, . | = | = |
| 3. Jos. Dom. Lagler, . | = | = |

## Todte von Morschach.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Jvcob Thade Bizener, . | 1 | 6. |
| 2. Jos. Dom. Bizener, . . | = | = |
| 3. Jos. Leonard Leimer. . . | = | = |

## Verwundete von Morschach.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Seb. Anton Imhof, . . | 1 | = |
| 2. Xav. Linggi, . . | = | = |
| 3. Lorenz Marti, . . | = | = |
| 4. Xav. Moos, . . | = | = |
| 5. Melch. Betschart, . . | = | = |
| 6. Dom. Bizener, . . | = | = |
| 7. Casp. Jos. Richle, . . | = | = |

## Todte von Ingenbohl.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Fidel Senn, . . | 1 | 3. |
| 2. Franz Dom. Stössel, . . | = | = |

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 3. Franz Dom. Blaser, | " | " |
| 4. Jos. Marti Tanser, | " | " |
| 5. Jos. Dom. Faßbind, | " | " |
| 6. Jos. Sutter, | " | " |
| 7. August. Ehrler, | " | " |
| 8. Dom. Kitt, | " | " |

## Verwundete von Ingenbohl.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Martin Giger, | " | " |
| 2. Franz Kamer, | 1 | " |
| 3. Jos. Blaser, sein Bruder tod, | " | " |
| 4. Jos. Leonard Blaser, | " | " |
| 5. Johann Bregenzer, | " | " |
| 6. Justus Marti, | " | " |
| 7. Carl Auf der Mur, | " | " |
| 8. David Kitt, | " | " |
| 9. Martin Weber, | " | " |
| 10. Melch. Strübi, | " | " |
| 11. Xav. Mettler, | " | " |
| 12. Jost Rudolph Marti, | " | " |
| 13. Ignace Faßbind, | " | " |

## Todte vom Sattel.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Meinrad Eichorn, | 1 | 5. |
| 2. Jos. Bellmont, | 1 | 4. |
| 3. Hauptmann Betschart, | " | " |
| 4. Melch. Jost Schuler, | " | " |
| 5. Marti Moser, | " | " |
| 6. Balz Rudolph, (alle drei Brüder,) | " | " |
| 7. Jacob, und (alle drei Brüder,) | " | " |
| 8. Aloys Schnüriger, (alle drei Brüder,) | " | " |
| 9. Dom. Schnüriger, | " | " |
| 10. Franz Lüond, | " | " |
| 11. Jos. Beler, | " | " |
| 12. Bulz Amgwerd, | " | " |

## Verwundete vom Sattel.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Aloys In der Bitzin, | " | " |
| 2. Meinrad Schuler, | " | " |
| 3. Werni Franz Schuler, | " | " |
| 4. Jos. Marti Schilter, | " | " |
| 5. Jos. Franz Schuler, | " | " |
| 6. Joh. Werni Betschart, | " | " |
| 7. Aloys Schnüriger, | " | " |
| 8. Lienhard Betschart, | " | " |

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 9. Clemens von Uri, | = | = |
| 10. Balz Eberhart, | = | = |
| 11. Jos. Eberhart, | = | = |
| 12. Jac. Ant. Mittelholzer, | = | = |

## Todte von Rothenthurm.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Jacob Wern. Ant. Schuler, | 1 | 8. |
| 2. J. Jos. Schuler, | 1 | 2. |
| 3. Martin Ant. Moser, | = | = |

## Verwundete von Rothenthurm.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Jos. Ant. Schuler, Mahler, | = | = |
| 2. Werni Franz Großmann, | 1 | 3. |
| 3. Jos. Casp. Jngli, | = | = |
| 4. Rudolph Ant. Beler, | = | = |
| 5. Jos. Justus Moser, | = | = |
| 6. J. Krienbühl, | 1 | 3. |
| 7. J. Jos. Schuler, | 1 | 2. |

## Todte von Lauerz.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Melch. Felklin, | = | = |
| 2. Joseph Beler, | = | = |

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 3. Jacob Anna, . . . . | = | = |
| 4. Joseph Wiget, . . . . | = | = |

## Verwundete von Lauerz.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. J. Melch. Eberhart, . . | = | = |
| 2. Franz Wiget, genannt Hirschler, | = | = |
| 3. Jos. Franz Abegg, . . | = | = |
| 4. Casp. Blaser, . . . . | = | = |
| 5. Jacob Beler, . . . | = | = |

## Todte vom Steinerberg.

| | Hinterlassene Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Leonard Frid. Richlin, . . | = | = |
| 2. Jos. Melch. Frieß, . . | = | = |

## Verwundete vom Steinerberg.

| | Frau | Kind. |
|---|---|---|
| 1. Clemens Kammer, . . | = | = |

# Recapitulation.

## Total der Todten.

| | |
|---|---|
| Schwyz . . . . | 24. |
| Arth . . . . | 11. |
| Steinen . . . . | 13. |
| Muttathal . . . . | 9. |
| Illgau . . . . | 2. |
| Iberg . . . . | 1. |
| Morschach . . . | 3. |
| Ingenbohl . . . | 8. |
| Sattel . . . . | 12. |
| Rothenthurm . . . | 3. |
| Lauerz . . . . | 4. |
| Steinerberg . . . | 2. |
| Total der Todten im gefreiten Land | 92. |
| Die vormahls angehörigen Höfe . | 50. |
| Einsiedeln . . . | 9. |
| Küsnacht . . . | 20. |
| March . . . . | 1. |
| Total der Todten des vormahligen K. Schwyz | 172. |
| Uri hat . . . . | 6. |
| Glarus soll haben . . | 28. |
| Zug bei Heglingen 9, und in den verschiedenen Gefechten im Kanton Schwyz 21 Mann; Total . | 30. |
| Totalverlust an Todten | 236. |

## Total der Verwundeten.

| | |
|---|---|
| Schwyz | 9. |
| Arth | 10. |
| Steinen | 11. |
| Muttathal | 7. |
| Illgau | 4. |
| Iberg | 3. |
| Morschach | 7. |
| Ingenbohl | 13. |
| Sattel | 12. |
| Rothenthurm | 7. |
| Lauerz | 5. |
| Steinerberg | 1. |
| Total der Verwundeten im gefreiten Land | 89. |
| Die vormahls angehörigen Höfe | 18. |
| Einsiedeln | 12. |
| Küsnacht | 10. |
| March | 4. |
| Total der Verwundeten des vorm. K. Schwyz | 133. |
| Uri hat | 7. |
| Glarus soll haben | 30. |
| Zug bei Heglingen 15, und in den verschiedenen Gefechten im Kanton Schwyz 10 Mann; Total | 25. |
| Totalverlust an Verwundeten | 195. |

Dieses Verzeichniß ist authentisch und bewährt, indem es von denen von den Pfarrern eingeschikten Listen gezogen worden. Nach Anzeige der Akten von Luzern sollen die Franken 2754 Todte gehabt haben, die Zahl der Verwundeten weiß man nicht; aber solche müssen auch verhältnißmässig und folglich zehnmahl mehr als die unsrige gewesen seyn.

# Erstes Buch.

# Erstes Buch.

## 1.

Ich will den ungleichen Kampf eines kleinen Freistaats im Schooße der helvetischen Alpen schildern, geführt für die von den Vätern ererbte Freiheit, gegen eines großen Nachbarreiches Uebermacht. Nicht ungeheures Gebiet, erschütternde Macht und furchtbarer Einfluß auf des Welttheils Schicksal wurden dem Volke zu Theil, dessen Unglück ich beschreibe; aber Tugend, Männlichkeit und erhabner Sinn machen es würdig dem Griffel der Historie und der Betrachtung des Weltweisen.

Unter jenen berühmten Völkerschaften Helvetiens, welche zuerst in Europa die verlorne Freiheit wiederfanden, und mit glücklicher Kühnheit gegen der Tyrannen Anfälle behaupteten, standen einst auch die Schwyzer. Tapferkeit erhob da-

mals derselben Namen zum gemeinschaftlichen der Helvetier. Und von allen Bundesvölkern zulezt, seinem Geiste getreu, sank das Volk von Schwyz, und opferte erst nach nicht unrühmlichen Kampfe, unter erschöpften Kräften, die vorweltliche Verfassung auf, in der es während eines Jahrtausends Hälfte glücklich gepriesen wohnte. Bald wurde es nun durch Elend wie durch sein Glück berühmt.

Schon in dieser Hinsicht verdienen die lezten Schicksale der kleinen Hirten-Republik unsre Aufmerksamkeit. Bieten gleich unsrer Verwunderung ihre eingeschränkten Kräfte keinen glänzenden Stoff, so wird doch der Geist, mit dem sie litt und unterging, des Forschers Ehrfurcht erwecken.

Der Schilderung dieser Ereignisse gehe das flüchtige Gemälde vom Zustand des schwyzerischen Freistaats voraus, wie er war, vor seiner Vernichtung.

---

## 2.

Das gesammte Gebiet der Republik zählte kaum mehr als 21 Quadratmeilen Flächenraums. —

Nordwärts wurde es, (entlang von Bäch und Wollerau an den Zürcher-Gränzen bis zum Schlosse Grynau an der Linth) von den Wellen des Zürichsees bespült. In Osten stieg zwischen ihr und dem Lande Gaster und Glarus zur Scheidewand eine lange Bergreihe, welche stufenweis vom wilden Zindlen und Köpfen empor zum rauhen Pragel und dem noch höhern Saßberg rükte und zum Silberstok. Eine schauerliche Felsenkette umschlang das Land im Süden. Hier trennten der unwirthbare Griffet, der alpenreiche Wasserberg und Goldblangg Schwyz von Uri, bis zum Dörflein Sisikon leztern Cantons, im Gebirgswinkel am Waldstätter See. Gegen Abend zog dieser See die Gränze, doch nur kaum zwei Stunden lang, von Sisikon bis Kindlis-Mord, am Fuße des prachtvollen Rigibergs; mit Ausnahme seiner westlichen Halden sezte der Rigi die Gränze gegen das Gebiet des ehemaligen Freistaats Gersau und dreier Luzernerischen Seegemeinden fort, bis Küsnacht am Waldstätter See. Dann schieden die Berghöhen von Mörlischachen bis Immisee das Schwyzergebiet vom Canton Luzern; und vom Zugersee bei der Kapelle St. Adrian über den waldreichen Rufiberg

und Rosberg, durch die Mitte des hohen Morgarten in grader Linie bis zum hohen Ronnen trennten sich Zug und Schwyz. Auf der leztgenannten Anhöhe zeigte ein Gränzstein der drei Orte March; denn von hier an bis zum Zürichsee hinab, berührten sich wieder die Gebiete von Zürich und Schwyz.

Das Land genießt einer heitern, gesunden Luft, in welcher Menschen und Pflanzen wohl gedeihen, obgleich Nebel des Herbstes und Winters oft wochenlang die niedern Thäler füllen.

Das größeste und anmuthigste Thal steigt amphitheatralisch empor vom Ufer des Waldstätter-Sees bis zum Fus des Haggenbergs und den auf ihm ruhenden zwei Felsenpyramiden des Myten. Zwischen Wiesen und Gärten im Schatten fruchtbarer Bäume ruhen zerstreut unzählige Hütten und Häuser, hin und wieder enger in Dörfern vereint. Im Hintergrunde erhebt sich mit schönen Gebäuden der Hauptflecken Schwyz.

Mitten durch die Breite des Geländes schweift in weiter Krümmung der Strom der Mutta. Er

rauscht aus einem Nebenthale hervor, dem er seinem Namen leiht, und welches fast vier Stunden lang in das Innere der Hochgebirge ostwärts bringt. Mit dem Muttathale verbindet sich in der Tiefe desselben, mit südöstlicher Richtung, das Bisithal. Beide sind von hohen waldigten Bergwänden umfangen; aus den ewigen Gletschern entsprungene Bäche stürzen, in Wasserfällen, herab über die schrofen Felsen, und schwellen die Mutta an.

Lächelnder dehnt sich ein Thalgelände nordwärts von Schwyz zwischen dem Rigi und Rosberg gegen Küsnacht, und Arth am Zuger-See. Es umfängt den romantischen Lowerzer-See mit seinen Inseln. Von Dörfern und Fruchtbäumen sind die Ufer dieses Sees umkränzt; das Gebirg ist voll reizender Mannigfaltigkeit; sein Umris verliert sich mit sanften Schwingungen in der Ferne.

Ein rauher Bergweg führt nordöstlich von Schwyz über Steinen empor, über den Arm des Haggenbergs, welcher sich gegen den See von Loverz strekt. Droben entfaltet sich ein schönes Hügelland, in der Nähe der Alpen. Dort ruhn in der Mitte ihrer fruchtbaren Matten und Gärten

die Dorfschaften Sattel und Rothenthurm, im Angesicht des klassischen Bodens von Morgarten, dessen Namen der Sieg der Schwyzer über Oestreichs stolzen Herzog verewigte. Die morigte Ebne von Rothenthurn senkt sich zwischen den Höhen von St. Jost und Samstageren hinab zum Fus des Kazzenstriks. Dieser Berg scheidet von hier das rauhe, weite Thal Einsiedelns.

Ehe der Einsiedler Meinradus mit seinen frommen Nachfolgern zu Anfang des neunten Jahrhunderts dies Land anwohnte, lag es im Schatten eines finstern Waldes, öd' und unwirthbar. Heut sind die Waldungen bis an den Fus der Berge zurückgedrängt; aber doch herrscht im Thale ein kalter Himmel, unhold dem Anbau der Erde. Der Boden ist moorigt, und trägt einen unerschöpflichen Reichthum von Torfen.

Im Norden des Thales steigt, von Tannenwäldern bedeckt, der Ezelberg. Ueber ihn führt eine enge, rauhe Straße in die fruchtbaren Gefilde der March und der Höfe, welche sich am Zürichsee ausbreiten.

Das wilde Weggithal, welches zwischen finstern Gebirgen in gleicher Linie mit dem Thale

von Einsiedeln gegen Norden läuft, öfnet dort gegen die Ebnen der March seine Mündung.

Dies sind die Landschaften, aus denen einst der Freistaat der Schwyzer zusammengesezt war; doch nicht alle genossen gleicher Rechte.

---

## 3.

Der eigentliche Kanton Schwyz, oder das gefreite Land, welches oberherrliche Rechte über die andern Gegenden übte, bestand nur aus den Gemeinden des Hauptthales Schwyz und denen des Muttathals, mit Inbegrif der auf den benachbarten Höhen liegenden Dorfschaften Morschach, Illgau, Iberg, Alpthal, Rothenthurm und Sattel; auch zählten sich zum gefreiten Boden noch Arth und die Ortschaften zwischen diesen Flekken und Schwyz gelegen.

Schwyz selbst war des Landes Hauptort. Die Geschichte von den ersten Bewohnern dieser Thäler ist dunkel und fabelhaft. Eine graue Sage lehrt, daß im Lande der Dänen und Ostfriesen vorzeiten große Hungersnoth entstanden, welche einen mäch-

tigen Theil des Volks zum Auszuge gezwungen habe. Also seyen die Norder aufgebrochen mit Weib und Kind, und bis in die unbewohnten Gebirgsgegenden Helvetiens gekommen, wo sie den Boden aufbrachen und die Waldung ausrodeten. Ihre Pflanzstädte breiteten sich aus über die Länder Schwyz, Uri, Unterwalden, auch jenseits des Brünig an den Ufern der Aar im Hasli. Zur selben Zeit soll Schwyz erbaut worden seyn von zwei Brüdern, Schwyter und Tschey, Führer jener ausgewanderten Haufen. Schwyter aber und Tschey ergrimmten gegen einander über den Vorzug, nach wessen Namen Volk und Land genannt werde. Schwyter habe darauf im Zweikampf den Bruder getödtet, wie einst Romulus um gleichen Preis den Remus erschlug *).

Lange schon hatten sich hier die Menschen unter gesellschaftlicher Ordnung vereinigt, ehe ihr Name, als Volk, gehört ward. Im steten Kampfe mit der rauhen Natur, genossen sie des Friedens

*) So erzählen alte geschriebene Chroniken; in Bezug auf den Brudermord berufen sie sich auf ein uraltes Gemälde in Schwyz, welches aber nicht mehr vorfindlich ist.

der Armuth. Kein Eroberer trug seine Waffen her, um den Beneidungslosen ihre Felsen zu rauben. Zwar drangen die Schaaren der Allemannen bis zu den Seeufern der Waldstätte im fünften Jahrhundert; zwar gewann später Burgund Herrschaft über einen großen Kreis Helvetiens; und die Monarchie der Franken umschlos wieder im sechsten Jahrhundert die gleichen Gegenden, die dann im zehnten Jahrhundert dem deutschen Reich zugetheilt wurden; doch scheinen die einsamen Gemeinden der Hochgebirge oft so wenig von ihren Herren, als diese von den Wohnsitzen ihres Volks gewußt zu haben.

Die fetten Wiesen des Landes, die kräuterreichen Alpen, deuteten den Einwohnern den zu wählenden Nahrungszweig. Ausschliessend widmeten sie sich der Viehzucht; den Ertrag ihres Fleißes führten sie wahrscheinlich gegen Wälschland, oder in das ebne Helvetien, wo die Durchzüge der Heere, der Aufenthalt von Reichsvögten und kriegerischen Besatzungen zum Handel nöthigten.

Das Hirtenleben, kunstlos und einfach, stillte die ersten Bedürfnisse der Alpenbewohner. Sie

sehnten sich, in ihrer Armuth reich, nach keinem fremden Gewinn. Künste und Handwerke und höhere Wissenschaften blieben ihnen unbekannt. Jede Familie verarbeitete selbst den rohen Stoff zur Bekleidung, und wußte ihr einfaches Hausgeräthe zu bereiten.

Die Wohnungen, von in einander gefugten Baumstämmen erbaut, waren in den Thälern und an den Gebirgshalden zerstreut. Jede Hütte eignete sich die nächstangränzende Flur zu, als ausschliessendes Eigenthum; die übrigbleibenden Striche Landes und die weitläuftigen Alpen bewirthschafteten die Hirten gemeinsam mit den Heerden. So entstanden jene großen Gemeingüter, oder Allmeinden, an welchen jeder Landsmann, reich oder arm, Genuß hatte.

Diese einfache Vertheilung des Bodens, diese Vereinsamung der Wohnungen, und der lange Aufenthalt der Hirten während der milden Jahrszeit auf den Alpen, verminderte den traurigen Streit über das Mein und Dein, welcher in andern Ländern nur allzuschnell das Gewebe der gesellschaftlichen Ordnung verwirren und verkünsteln mußte.

Die Hirten, im gemeinschaftlichen Besiz so vielen Eigenthums, konnten nicht einer einzigen Person überlassen, darüber zu verfügen. Vor der Auffahrt in die Alpen und ihrer langen Trennung versammelten sie sich, alle Gemeinden des Landes in eine einzige. Diese Landesgemeinde verband Meinungen und Wünsche der Hirten zu einem Gesetz, dem jeder gehorchen mußte. Nach hier gegebenen Ordnungen ward das ganze Jahr, und so lange gerichtet, als sie vom gesammten Volk genehmigt blieben. Einem erfahrnen Biedermann, welcher des öffentlichen Vertrauens genoß, wurde die Vollziehung der Gesetze von der Gemeinde des Landes übergeben, und ihm ein Rath von einigen Landsleuten zugesellt. Er trug den Namen Landamman, ohne höhere Macht und eigenthümliche Vorrechte. Ein paar Jahre nach ihm übernahm die Bürde des Gemeinwesens ein anderer an seiner statt.

Also die Grundverfassung des Hirtenvolks, welches gegenseitig in dem Verhältnis einer Familie stand, davon ein jedes Mitglied mündig und bei ungetheilter Erbschaft Genosse gleicher Rechte war. Als die Waldstätte dem deutschen Reiche

zugesprochen, und die Völkerschaften derselben zuerst nahmhaft wurden, lebten sie schon lange in diesem kunstlosen Vertrag; auch änderten sie ihn nicht, da Reichsvögte über diese Gebirge, als Theile des großen Zürichgau's, Aufsicht empfingen.

Das Volk, ungestört bei seinen Uebungen, war ob des Namens nicht eifersüchtig, welchen ein entfernter Kaiser, als Oberhaupt, über die Alpengegenden führte. Vielmehr zufrieden, unter dem Schuz eines mächtigen Fürsten vor den Anfällen der Nachbarvölker geborgen zu seyn, begaben sich die Bewohner der Waldstätte freiwillig in des deutschen Reichs Schirm, mit Vorbehalt ihrer Verfassung und Freiheit. Die Kaiser aber, ungelokt von den Wildnissen Helvetiens, begnügten sich, ein treues, tapferes Gränzvolk zu besitzen, welches oft seine kühnsten Jünglinge zu ihren Kriegsschaaren sandte.

Die Herzoge von Allemannien oder Schwaben übten, an Kaisers statt, dessen Hoheit, nach allemannischem Landrecht. Ein Reichsvogt hielt, jedoch im Lande selbst, das Blutgericht.

Als aber im zwölften Jahrhundert unsrer Zeitrechnung das Reich von großen Stürmen bewegt

ward, und, in einer Kette von Kriegen verwickelt, die Kaiser immer ohnmächtiger wurden, während deren Vasallen nach unabhängigen Fürstenkronen strebten, blieben die Gebirgsbewohner oft lange ohne des Reiches Pflege und Schirm. — Dann, je nachdem Gefahren drohten, schlossen sie sich enger in Bündnissen mit ihren Nachbarschaften zusammen; denn Schwyz, Uri und Unterwalden beherbergten nur ein ursprüngliches Brudervolk; — oder sie erwählten einen tapfern Mann, reich an Land und Leuten, zu ihrer Gebirge Schirmvogt, wie es geschah im Jahre 1110. da sie dem Rudolf Graf von Lenzburg die Schirmvogtei antrugen.

Es waren aber diese Zeiten der allgemeinen Verwirrung und Fehde die goldenen des Mönchthums. In allen Gegenden entsprangen Klöster, selbst im Innern der Waldthäler. Kaiser und Fürsten beliehen dieselben mit allerlei Vorrechten, mit Schenkungen an Land und Leuten.

Schon im Jahre 838. hatte in dem rauhen Thale zwischen den Gebirgen des Myten und Ezel, mitten in schauerlicher Wildnis, Einsiedler Mein-

radus seine Zelle erbaut. Mehr denn vierzig Jahre später gieng an deren Stelle ein Kloster auf, unter der Hand eines andern Eremiten, genannt Benno. Bald dehnte, gestärkt durch Gunst der Fürsten, die neue Stiftung ihre Gewalt umher aus, und erweiterte ihr Gebiet durch eine Schenkung der benachbarten Wildnis (vom K. Heinrich II. 1018) über den Boden der Schwyzer-Gemeinden.

Als diese ihr väterliches Erbe behaupteten, und auf Einsiedelns Klage des Kaisers Spruch (im Jahr 1114) den Schwyzern das strittige Land absprach, verschmähten sie des Kaisers ungerechtes Urtheil. Sie schlossen aber mit Uri und Unterwalden, ihren treuen Nachbaren, einen neuen Bund, zum Schirm der Rechtsame. Vergebens schleuderte selbst der Bischof von Konstanz auf die drei Bundesländer den Bann *). Sie hüteten in Frieden

*) Erst gegen das Ende des X. Jahrhunderts übten die Bischöfe von Konstanz geistliche Hoheitsrechte über das Land von Schwyz. Wenigstens finden sich keine frühern Spuren davon. Die älteste ist die Einweihung des großen Münsters zu Einsiedeln durch Bischof Conrad, Anno 984.

Frieden ihre Heerden; und ihre Priester gehorchten schweigend dem Befehl des Volks.

Seit jener Zeit blieben Uri, Schwyz und Unterwalden in stäter Bundesverwandtschaft; und, stärker durch ihren Verein, handhabten sie männlich die von den Altvordern empfahnen Freiheiten. Auch leisteten sie dem deutschen Reiche keine Huldigung wieder, bevor ihnen die Ungestöhrtheit ihrer Verfassung, und daß sie nur, als freie Leute, des Kaisers Schirm erkohren, feierlich verbriefet worden war. Von mehr, als einem Kaiser, wurden ihnen diese Urkunden ausgestellt.

So weit hinaus in die Dunkelheit der Vorwelt die Geschichte ihr Licht wirft, nimmt man doch nirgends bey diesem Volke die Spur einer innern Gährung, oder eines Wandels der Staatsverfassung wahr. So wie dieselbe allmählig durch das Bedürfniß der Hirtengemeinden ihre Bildung gewonnen, gieng sie unverlezt zu den Enkeln über *).

*) Schon im Anfang des neunten Jahrhunderts, also in der romantischen Epoche Karls des Grossen, hatten die Waldstätte ihre politische Organisation vollendet. Eine Urkunde des röm. K. Ludwig

In allen Verträgen mit dem Ausland wurde sie feierlich vorbehalten. Auch die nachmahlige Revolution, welche mit dem Tode des Tyrannen Geßler begann und mit der Erklärung der helvetischen Unabhängigkeit im westphälischen Friedensschluß endete, bewirkte keine Verwandlung der Staatsform, sondern nur Tilgung fremder Tyrannei, unter welcher die alte, freye Verfassung einzusinken drohte.

Wenige Völker der Welt mögen sich dieses Glückes rühmen. Ueberall litten die Regimentsformen, sei es in Freistaaten oder Alleinherrschungen, einen mannigfaltigen, schnellern oder langsamern Wechsel; und die ältesten Monarchien blieben nicht ohne furchtbare Erschütterungen, in welchen oft der Bürger Leichname den wankenden Thron stützen mußten.

Sicherheit des Eigenthums scheint in den helvetischen Gebürgsrepubliken die Grundlage der Constitutionen gewesen zu seyn. Indem jedes Glied

im Landesarchiv von Uri aufbehalten, erklärte, daß dieser Ort sich 809 in des Reichs Schuz begeben, mit Beibehaltung seiner Ordnung und Freiheiten.

des Volks, als Genosse des großen Gemeineigenthums der Alpen und Allmeinden, seine Rechte auf dieses schüzte, entsprang eine politische und bürgerliche Gleichheit, minder das Werk des klügelnden Nachdenkens, als der Naturnothwendigkeit, und eben darum unzerbrüchlicher.

Die Hirten, jeder von ihnen an das Heil des Vaterlandes mit den gleichen Banden gefesselt, wachten mit gleicher Eifersucht über die Freiheit des gesammten Volks. Der Landamann blieb ohne alle Auszeichnung und genoß keiner höhern Ehrenbezeugung, als die schon im Zutrauen des Volks lag. Man nannte ihn und seine Mitarbeiter nur: Die bescheidenen Männer. Seine Amtspflichten mußte er ohne Hoffnung eines andern Gewinns vollstrecken; er konnte sie aber nicht vernachläßigen, ohne des öffentlichen Unwillens gewiß zu seyn. — So blieben Ehrgeiz und Gewinnsucht ohne Nahrung; nur die Tugenden des Regenten fanden in der Tugend der Bürger ihr Element.

Das einsame Alpenleben, und der Aufenthalt in zerstreuten Hütten, gewöhnte das Volk zur stillen

Häuslichkeit; die Flecken und Dorfschaften, allmählig in den Thälern anwachsend, konnten nie jenes Uebergewicht erlangen, welches durch Anhäufung des Reichthums vermittelst des Handels erzeugt wird. Die unabänderliche Gleichheit der Bürger zog die Gleichheit der Gemeinden nach sich; keine trachtete nach dem eiteln Range einer Stadt, ein Rang, der in dieser Verfassung nie Vortheil, wohl Gefahr bringen konnte.

Indem der Bürger unter solchem Verhältniß sein Wohl nur in des Vaterlandes Wohlfahrt erkannte, war ihm jeder Fremdling gefährlich, welcher, ohne durch engere Bande an dies Land geknüpft zu seyn, durch Einfluß auf dessen Heil gewinnen konnte. Schon in den frühesten Zeiten ward aus dieser Ursache kein anderer zum Richter angenommen, so sehr auch Erfahrung, Redlichkeit und Einsicht ihn dazu eigneten, denn nur ein Landmann und Einwohner.

Als bei der allgemeinen Verwirrung des deutschen Reichs im dreizehnten Jahrhunderte weltliche und geistliche Herrschaften, ihre Macht zu erweitern, mit ihren Vergrösserungsentwürfen selbst

die Gelände in den Waldstätten berührten, ertheilten sich Schwyz, Unterwalden und Uri in ihrem Bundesbriefe 1291 ausdrüklich das Versprechen, nie einen Richter zu genehmigen, der nicht Landsmann sei, oder der sein Amt durch Bestechung oder Kauf erworben habe.

Mit ähnlicher Behutsamkeit verfuhr das Volk in der Wahl der Geistlichen. Diese Menschenklasse, ohne Eigenthum, Ehe und Vaterland, immer geneigt die Pflichten des Lehrers mit den Rechten eines Regierers zu wechseln, gewaltiger durch Binde- und Löseschlüssel, als der Fürst durch weltlichen Zepter, war der Ruhe vieler Staaten schon furchtbarer oft, denn ein siegreiches Heer des Feindes. Der Schwyzer einfache Politik, immer auf die Sicherheit des Eigenthumes zurükfehend, lähmte die geistliche Gewalt, indem sie solche nur Kindern des Landes anvertrauen wollte. Der vaterländische Priester, umringt von seinen Blutsverwandten und Kindheitsgespielen, bekannt mit den Grundsätzen und dem Ernst des Volks, dem er seit früher Jugend Ehrfurcht zollen lernte, trat nicht so leicht in Verbindungen gegen das Heil des heimathlichen Bodens, als der

Fremdling, dem Ehrgeiz andre Ziele vorspiegelte, oder Schwärmerei, über den Himmel, das Glük der Erdenbürger vergessen machte.

Daher geschah es, daß jener Bannstrahl nicht zündete, welcher, wie oben erwähnt, aus dem Heiligthum der bischöflichen Curie von Constanz gegen die Völker der Waldstätte fuhr. Die Priester warteten ihres Amtes; die Gunst des Brudervolks war ihnen theurer, als der Zorn des erhabnen Fremdlings an den Ufern des Bodensees furchtbar. Auch in spätern Zeiten trugen die Waldstätte jenen Grundsaz. Denn als ihr Gebiet sich in glüklichen Kriegen erweitert hatte, wandten die Schwyzer ihn selbst auf die Kirchen der unterworfnen Lande an und ernenerten ihn für das freie Gebiet. *)

Es ist zweifellos, daß eben diese Wachsamkeit

*) „Geistliche Pfründen in unserm Land und Botmäßigkeit sollen auf Genehmhaltung einer Maien-Landsgemeinde von unsern Priestern, so in unserm Land erbohren und erzogen, besezt werden; es wäre denn Sach, daß dergleichen taugliche Priester in unserm Land nit wären.“ Landsgem. Erkenntniß v. J. 1675.

wider den Einfluß der Freunden die Ruhe des Landes und die Dauer der Staatsverfassung nicht wenig geschirmt habe. So wie durch Klugheit in ihrer Haushaltung, bemühten sie sich durch Waffenstärke und Einigkeit gegen das Ausland gleichen Zweck zu erreichen.

Im Jahr 1257 wählten daher die vereinten Waldstätte den Tapfersten in Helvetien zu ihrem Schirmvogt. Es war Graf Rudolf von Habsburg. Sie erlegten ihm alljährliches Schuzgeld; er aber verband sich ihr Beistand in feindlichen Angriffen, und Schiedsrichter in Zwisten zu seyn, so sich unter den Waldstätten erheben mögten. Rudolf bestieg nachmahls den deutschen Königsthron (1273); auch als Monarch erklärte er sich der Waldstätte Freund, und sicherte in neuer Urkunde (1274) ihrer alten Freiheit ungetrübten Genuß, und gelobte sie, zu des Reichs besondern Diensten, in unveräußerlicher Unmittelbarkeit zu bewahren.

Rudolphs Vergrößerungssucht wurde inzwischen durch die Krone, so ihm das Schikfal zugeworfen hatte, mehr gereizt, denn gestillt. Bald er-

wuchs der Wunsch, seines Stammhauses Herrschaft über Helvetien zu verbreiten, zum Lieblingsentwurf. Ihn zu erfüllen gebrach es ihm weder an Klugheit nach Mitteln. Mit Schmeicheln und Drohung, mit Kauf und Tausch, erwarb er seinen Söhnen überall neue Rechte, Güter und Schlösser. So gelang es ihm endlich, selbst bis in das Hochgebirge der Waldstätte Habsburgs mächtigen Fuß vorzurücken. Abt Berchtold von Falkenstein zu Murbach, in Schulden versunken, doch Eigenthümer schöner Ländereien und mancherlei Rechtsamen im Gebiete von Unterwalden, verkaufte sie an Habsburg.

Mistrauisch sahn die freien Gebirgsbewohner die furchtbare Nachbarschaft. — Schon umringt von habsburgischen Herrschaften und Besitzungen, blieben ihnen die Absichten jenes gewaltigen Hauses kein Geheimniß.

Da traten sie zusammen von Uri, Schwyz und Unterwalden, und beschworen „in Erwägung böser und gefährlicher Zeiten“ einen ewigen Bund (1291) „sich und die ihrigen mit Haab' und Gute, gegen alle und jede, wer sie auch seyen, zu vertheidigen,

und einander mit Rath und That Hülfe zu leisten.“

Albrecht der Sohn und Thronfolger Rudolphs verfolgte des Vaters stolze Entwürfe, doch minder glücklich und schlau. Es war im Jahr 1300. da sandte er denen von Uri, Schwyz und Unterwalden die Mahnung, sich dem Schirm des königlichen Hauses zu unterwerfen für immerwährende Zeiten, und seine Freundschaft dem gerechten Unwillen eines gewaltigen Fürsten vorzuziehn.

Aber die Landsgemeinden der Waldstätte antworteten einmüthig: „Wohl erinnern wir uns, welch' ein guter Schirmherr und Hauptmann uns Rudolph gewesen, und wollen es auch seinem Stamm ewig gedenken; aber wir wollen lieber in der alten Freiheit verbleiben, die der König uns bestätigen möge, wie sein Vater“. Durch Abgeordnete flehten sie wiederholt beym Kaiser um der Freiheiten Bestätigung, und um einen Reichsvogt, den sie zu sich laden könnten, wenn über Blutschuld zu richten sey. Der unerbittliche Monarch sezte mit Stillschweigen die Dauer ihrer Freiheit in ein gefahrvolles Dunkel, und statt, nach alter Uebung

einem angesehnen Reichsvogt den Blutbann in den Waldstätten zu übertragen, sandte er ihnen einen Vasallen seines Hauses, Hermann Geßler von Brunegk, und den verachteten Edelknecht Beringer von Landenberg, als Vögte ins Land.

Gesler empfing Schwyz und Uri. Abwechselnd hauſete er zu Altdorf im Lande Uri, nnd zu Küsnacht. — Beringer, als Vogt von Unterwalden, schlug seinen Wohnsitz im Schloße ob Sarnen in Obwalden auf; über Nidwalden ordnete er einen treuen Knecht Oesterreichs, von Wolfenschies genannt, zum Statthalter.

Dieser Männer Wahl, herabwürdigend durch ihren Stand, gefährlich durch ihre Denkart, wekte in den Gebirgen zugleich Unwillen und Furcht. Die Vögte rechtfertigten nur allzuschnell des Landes Kummer. Sie maaßten sich einer Hoheit an, welche kein Vertrag zugestanden; von Verbrechen besudelt, richteten sie des Landmanns Vergehn mit Grausamkeit; indem sie mit zerstörender Hand ihres Herrn Gewalt der freien Landesverfassung beimischten, erhoben sie ihre Zügellosigkeiten zu politischen Maasregeln.

Albrechts des Königs Gemüth, und viele seiner spätern Handlungen scheinen Bürgen zu seyn, daß die despotischen Vögte nur Vollstrecker seiner Wünsche waren. Den Gebirgsstaaten die Abhängigkeit fühlen zu lassen, hob er von Zeit zu Zeit alle Ausfuhr dahin auf von Seiten seiner Erblande, oder beschwerte sie mit drückenden Zöllen. Ihre blühenden Länder gewaltsam an sich zu ziehn, reizte er deren Einwohner zu verwegnen Schritten. Ihre Klagen versties er.

Sich selbst überlassen, duldeten die Waldstätte lange. — Der Vögte Tirannei ermüdete nicht. Bald verlohren Eigenthum und Person die Sicherheit. Drei Männer führten die Freiheit des Gebirglandes dem Untergang zu — Drei andere aber retteten sie wieder.

Es war im Jahre 1307, als ein Flüchtling von Steinen des Landes Schwyz, Namens Werner von Stauffach, ein andrer Flüchtling Arnold Anderhalden aus dem Melchthal von Obwalden, zu Attighausen, einem Dörflein in Uri, verborgen, mit ihrem Beherberger Walter Fürst, den Plan zur Erlösung Waldstättens entwarfen. Die Verschwörung reifte. Diese

drei Männer, jeder von zehn Entschlossenen aus seiner Heimath begleitet, sezten Tag und Stunde des großen Werks an. Ein feierlicher Eid verband sie. Noch zeigt man zu unsern Zeiten den mit Wiesen bekleideten einsamen Felsen-Vorsprung am Waldstätter See, zwischen Uri und Unterwalden, wo jene Befreier des Vaterlandes in der Mitternachtsstunde des 17ten Wintermonds (1307) Hand in Hand zu dem Gotte schworen, der Fürsten und Bauern zu gleichen Rechten geschaffen hat.

Noch vor dem Tage des Aufstands aber fiel Geßler von Brunegk, durch den Pfeil eines Urner Jünglings getödtet. Dieser war Wilhelm Tell von Bürglen, Walther Fürsts Schwiegersohn. Die That des Tell ist weltkundig.

Am ersten Tage des Jahres 1308. ward durch allgemeinen Aufstand das Land befreit, sonder Blutvergießen. Die gefangenen Vasallen und Knechte Oestreichs schworen die Urphede, nie der Waldstätte Boden wieder zu sehen, und wurden fortgesandt.

Ohne Furcht vor Albrechts Zorn, stolz auf ihre Kraft und Sache, gelobten die drei Völker

nun, in des alten Bundes Erneurung, die wiedererrungene Freiheit mit Gut und Blut zu vertheidigen. Diesem Muthe glich ihre Redlichkeit; denn sie schämten sich unedler Rache an den Werkzeugen ihrer Unterdrücker, ehrten ihre Pflichten gegen das deutsche Reich, und gegen andre rechtmäßige Herren; sie versagten selbst den Mördern ihres Feindes Albrecht ein schirmendes Obdach, da dieser, mitten unter Kriegsrüstungen gegen die Waldstätte, vom ehrgeizigen Johann von Schwaben und seinen Gefährten erschlagen worden war.

Doch nicht ihr Edelsinn, sondern nur des Reiches Verwirrung, rettete sie anfangs von den Folgen jenes kühnen Schrittes. Albrechts Thronfolger, Heinrich VII. billigte sogar ihr gewaltthätiges Verfahren, nahm sie in des Reiches Schirm, (1309.) und ertheilte ihnen wieder einen benachbarten Großen, als Reichsvogt inner ihren Gränzen Gericht zu halten.

Nach Heinrichs Tode buhlten in Deutschland zwei mächtige Fürsten um den deutschen Königsthron, Herzog Ludwig von Baiern und Herzog Friedrich von Oestreich. Die Waldstätte fielen

dem erstern bei; denn mit Oesterreich waren sie noch in Span und Fehde wegen der Gränzen zwischen Einsiedeln und Schwyz, da Oestreich die Sache des Klosters Einsiedeln führte, worüber es erbliche Kastvogtei hatte.

Doppelt also gereizt, rüstete sich das Haus Oesterreich-Habsburg, in der Unterjochung und Demüthigung der drei Waldstätte seine Rache und Habsucht zugleich zu löschen. Vergebens war jeder Versuch der Ausmittelung; Herzog Leopold von Oestreich, Friedrichs Bruder, rückte mit einem Heer von 15,000 Mann gegen die Gebirge; schier 10,000 Mann zogen mit ihm selbst gegen Schwyz über Zug; 5000 Mann mit Otto von Strasberg über den Brünig und von Luzern gegen Unterwalden.

Von Uri und Unterwalden verstärkt, erwarteten ihn dreizehn hundert Schwyzer, auf den Anhöhen von Morgarten. Er kam und ward geschlagen. Es war der Morgen des 15ten Wintermonats 1315. In den Gebirgen von Obwalden litt Otto von Strasbergs Heer gleiches Schicksal.

Der Sieg am Morgarten befestigte der Schwyzer Freiheit; machte den Bund der Waldstätte dauerhaft, und seine ehrwürdigen Trophäen wurden bald der Altar, um welchen sich die Völker Helvetiens zum großen Bund versammelten, welcher nachmals unter dem Namen der Eidsgenossenschaft berühmt ward.

In einer Reihe weniger Jahre waren die Waldstätte von entschlossenen Freunden umringt, und ihre Thäler von den Angriffen Oestreichs entfernt. Luzern, Zürich, Glarus, Zug, und endlich auch Bern, traten nach und nach in den Waldstätter-Bund, theils geschreckt von den Mißhandlungen Oestreichs, und des übermüthigen Adels, theils erschüttert von eignen innern Unruhen.

Oesterreich und der wankende Adel Helvetiens, indem sie unter dem Aufwand ihrer Macht erlagen, sahen in diesem Kampfe nur die Stärke ihres Gegners wachsen. Die Eidsgenossen in der Vertheidigung gegen fremde Gewalt und Aufrechthaltung innern Regiments, fochten mit unzerstörbarer Einigkeit, als wären sie nicht Genossen eines Bundes, sondern einer Familie. Gemeinschaftliche Gefahr verbrüderte sie; lange Uebung und

seltene Untreue des Sieges machten sie unternehmender; das lebendige Gefühl gerechter Sache bewahrte sie vor Treulosigkeit; und Verbannung jeden Schrittes, der sie vor andern Völkern entehren, und das Heiligthum, für welches ihr Leben bürgte, entweihen konnte, gebahr ihren Ruhm.

Die Schlachten von Sempach und Näfels vollendeten das Werk, welches am Morgarten begonnen. Oesterreich, mit erschöpften Kräften, mit vernichteten Hoffnungen, nahm den Frieden an, welcher anfangs (1389.) nur für 7 Jahre geschlossen, dann (1394.) auf 20 Jahre und endlich (1412.) auf 50 Jahre ausgedehnt wurde. Die siegreichen Kantone blieben in ihrer Eroberungen Besiz, einst bedroht vom gewaltlustigem Adel, izt ihm furchtbar.

Schon im Jahre 1350. hatten die Schwyzer sich den Spruch des Abtes von Disentis über die strittige Gränze des Klosters Einsiedeln gefallen lassen, welche ehemals eine der Mitursachen des langen, blutigen Haders war. Nachmals wurden die Angehörigen jenes Klosters sogar genöthigt, dem Stande Schwyz Huldigung zu leisten. Also

erweiterte

erweiterte dieser kleine Gebirgsstaat seine Gränzen, nachdem er schon weit früher (1310) auch die beiden Flecken Arth und Küsnacht durch vortheilhaften Kauf vom Hause Habsburg an sich gezogen hatte.

Unstreitig ist jener thatenvolle Zeitraum der glänzendste in der Eidsgenossen Geschichte. — Ihrer Heerhaufen ungestüme Tapferkeit erregte die Bewunderung der Welt, noch mehr aber die Einfalt ihrer Sitten, die Redlichkeit in Verträgen, die Bescheidenheit im Genuß des Siegs.

Als Kaiser Sigismund, entzweit mit Oesterreichs Herzog, gegen diesen ins Feld zog, und im Namen des Reichs auch die Eidsgenossen zum Streit aufbot, weigerten diese, im Angedenken des funfzigjährigen Friedens, dem Kaiser Hülfe zu senden. Vergebens ward mit Acht und Bann gedroht. Sie blieben getreu ihrem Worte. Aber die große Kirchenversammlung, damals in Konstanz versammelt, trat dem Kaiser zur Seite; durch den Mund der heiligen Väter lösete die Kirche selbst den Friedensbund auf. Da zogen noch einmal, folgsam dem Gebot der Kirche und des Kaisers,

die Schweizer gegen Oesterreichs Herzog. Ihres Beistandes Lohn wurden die von ihnen eroberten Habsburgischen Gelände, weil Oesterreich den Frieden erflehen und theuer erkaufen mußte.

Unter diesem Schlage zertrümmerte sajer Habsburgs alte Macht in Helvetien ganz. Der Bund der Eidsgenossen wuchs an Macht, vor der sich überall der weiland stolze Adel beugte. Auch Schwyz war nicht ohne Gewinn aus dem Kriegsfelde heimgekehrt; es genos der Mitherrschaft über die Freiämter und über Baden, Mellingen und Bremgarten, welche von den Ständen Zürich, Luzern, Schwyz, Uri, Unterwalden, Zug und Glarus gemeinsam erobert waren, und forthin als gemeine Vogteien von ihnen regiert wurden. Nur Uri schlug den Genus an der neuen Eroberung ab, weil es den Krieg nicht um Gewinn, sondern auf des Kaisers und der Kirche Gebot, geführt.

---

## 4.

Es ist Täuschung, wenn wir die Kriegskunst jener Zeiten mit derjenigen unsrer Tage verwechseln, und die Macht damaliger Nachbarschaften

Helvetiens mit der heutigen. Wir dürfen es nicht verheelen, daß die glücklichen Eidsgenossen einen großen Theil ihrer Siege Umständen dankten, welche nachmals im Wechsel der Zeiten verschwanden.

Seit den Tagen der ungeheuren Anarchie und Verwirrung des deutschen Reichs, hatten sich unzählige kleine Mächte, geistlichen und weltlichen Standes, aus den Trümmern der alten fränkischen Monarchie gelöst. Einzelne Städte und Abteien und Ritter maaßten sich einer Unabhängigkeit an, die nur von der Schwäche ihrer Nachbarn verbürgt werden konnte. Sie machten gegen einander kleine Kriege, Frieden und Bünde; blieben aber, durch die Mannigfaltigkeit ihres Interesses und ein ewiges nebenbuhlerisches Mißtrauen, zu großen Unternehmungen gelähmt.

Die Eidsgenossen hatten nicht gegen eines einzigen Gegners Geist zu ringen, dessen Wille die Kriegsmassen beseelte, und nach dem Gang der Begebenheiten nuzte, sondern gegen eine Verbindung ungleichartiger, oft sich selbst bestreitender Mächte. So ward ihnen z. B. im Jahre 1386. von mehr als anderthalb hundert Herr-

schaften, geistlichen und weltlichen Standes Fehde erklärt. — Gefahr vereinte die Eidsgenossen mehr, als der Eid; aber verschiedene Hoffnungen und Zwecke entnervten der Gegner Verein. Der Schweizer kannte auf dem Schlachtfelde den Preis, um welchen gespielt ward; ihm blieb zwischen Freiheit oder Sklaverei nur zum Tode der Mittelweg. Die Kriegsknechte des Feindes hingegen, auf bestimmte Zeit zum Kampfe gedungen, waren gleichgültiger gegen die Folgen einer verlornen Schlacht, wo Sieg und Niederlage ihnen fast gleiches Loos zufallen lies.

Es bestanden die Kriegsheere jener Zeiten aus keinen fortdauernden Schaaren, sondern erst beim Ausbruch der Fehde wurden sie zusammengeworben, und nach derselben, oder im Verlauf einer bedingten Zeit entlassen. Sie blieben daher meistens sonder Zucht und besondre Uebung. Die Eidsgenossen hingegen, fast ein ganzes Jahrhundert durch Oesterreichs Anfälle unter Waffen erhalten, reiften in anhaltender Thätigkeit zu vollendeten Streitern. Mit allen Mühseligkeiten vertraut, ward ihnen der Kampf ein Spiel. Anfangs zufrieden mit Selbstvertheidigung, verwandelten sie

diese zulezt in Angriff; anfangs in Massen umringt, verbanden sie zulezt mit Waffenfertigkeit eine kriegerische Ordnung, von welcher ihr Sieg bei Murten zeugete.

Der Kern damaliger Heerschaaren war die Ritterschaft. Der Adel, von Jugend an im Kriegsspiel geübt, und von der Ehre gespornt, galt gegen den Fußknecht unüberwindlich in der Feldschlacht. Er focht, von eisernen Harnischen gedekt, meistens zu Pferde, zuweilen auch, wenn der Boden den Bewegungen des Rosses ungünstig war, in geschlossener, undurchdringlicher Schaar zu Fuß, wie an den Seeufern von Sempach geschah. — Aber, was ihm in Ebnen den Sieg sicherte, stieß denselben in Gebirgen zurück. Die rauhen Thäler und Berghalden beschränkten die Tugend der Rosse; der Harnische Last gab ihre Träger preis der Gewandheit leicht gerüsteter Bergmänner.

Unkunde der Gegenden und Gebirgspfade, Mangel an Magazinen und Lebensmitteln, umringte die feindlichen Heere mit Hindernissen, welche der schweizerische Landmann, bei einfacher Kost und Kunde seiner Felsenlabyrinthe nicht kannte.

Diese und manche andre Vortheile stellten meistens das Gleichgewicht gegen die Ueberzahl feindlicher Schaaren her; Unerschrockenheit des Freiheitsgefühles gegen raublustige Sklaven-Horden warf den Sieg in die Wagschale der Schweizer.

Nach Ueberwindung Habsburgs genoß jeglicher der acht Kantonen die Frucht seiner Anstrengungen, und ordnete sein Hauswesen. Fast ein jeder war an Land und Leuten reicher aus dem hundertjährigen Kampf zurückgekommen.

Im Anfange desselben, als seine Gefahren noch kaum zur Hälfte bezwungen waren, genossen die Eidsverwandten ihre Siege mit einer jenen Zeiten ungewohnten Nüchternheit. Wohin ihre glückliche Paniere wehten, führten sie mit dem Siege zugleich die Befreiung der Völker. Es däuchte ihnen ungerecht, andern zu misgönnen, was sie sich selbst mit den theuersten Opfern zu erwerben gingen. Die von ihren Schaaren besezten Nachbargelände wurden aus Oesterreichs Unterthanen freie Bundsgenossen der Waldstätte. So empfingen die Landschaften Glarus und Zug aus den Händen der Sieger Freiheit. Dankbarkeit

und eigner Vortheil befestigten diese an den Bund der Eidsgenossenschaft mit unvergänglicher Treue.

Aber in spätern Zeiten des Kampfes, als die Schweizer ihrer Triumphe gewiß waren, begnügten sie sich, dem Hause Oesterreich Rechte zu entreißen, ohne sie dem Volke mit alter Grosmuth zurück zu geben. Es war das Beispiel der Städte von Luzern und Zürich und Bern, reich an Land und Angehörigen, welches die Waldstätte zu eifersüchtiger Vergrößerung reizte. So geschah es daß Völker, im Genuß der reinsten Freiheit und widerspenstig gegen das leiseste Ansinnen der Unterthanschaft, sich selbst Unterthänigkeit schafften.

Der eidsgenössische Verein, obwohl in seinen Theilen an Macht gewachsen, gelangte deshalb im Innern zu keiner festern Dauer. — Zusammengesezt von Herrschern und Beherrschten, von reichern, größern und ärmern kleinern Staaten, so verschieden an Zwecken, als Hülfsmitteln, wurde der Schweizerbund in sich selbst angefallen von mancherlei Leidenschaften, die bei dem Einschlummern äusserer Gefahr erwachten. Jeder der acht Kantonen, mit sich beschäftigt, vergaß die Stiftung besserer Bundesordnung; und wie einmal die

Staaten unter verschiedenen Zeiten und Verhältnissen zur Eidsgenossenschaft eingetreten waren, verblieben sie.

Uri, Schwyz und Unterwalden, Mittelpunkt des gesammten Bündnisses, sähen an sich geschlossen, durch besondere Verträge, die andern Stände, ohne daß diese unter sich durch neue Bünde zusammenhingen. Die Verträge selbst lauteten einander nicht überall gleich, wie denn Zug, zum Beispiel, andern Kantonen in Rechten nachstehen, und in Rücksicht auswärtiger Bündnisse und Kriege der Vorschrift älterer Kantone folgen müssen. Das Wesen der gesammten Bundesschaft war aber allseitiger Schirm jedes Orts bei seinen Verfassungen und Rechtsamen.

Das Streben jedes Kantons, durch Ausweichung engerer Verpflichtungen gegen die übrigen Bundesstaaten, Freiheit und Souveränität für sich zu sichern, führte oft an den Abgrund des Untergangs und zur nahen Auflösung der Eidsgenossenschaft selbst.

Schwyz und Zürich, von ehrgeizigen Vorstehern geleitet, gaben in ihrem langen und wüthen-

den Kampf über das Erbe des lezten Grafen von Toggenburg schrecklichen Beweis. Uneingedenk ihres Bundes erhoben beide im Jahre 1436. wider einander die Panner. Ihre empörten Leidenschaften wurden durch kein Flehen der Eidsgenossen, durch keine Vermittlungsversuche beschwichtigt, welche Städte, Fürsten, Pabst und Kirchenversammlung unternahmen. Zürich rief Oesterreichs Beistand auf, und trat mit dem Erbfeind der Eidsgenossen in Bündnis; Schwyz flößte seine Erbitterung den übrigen Ständen ein; vierzehn Jahre lang währte der Bürgerkrieg mit unbegränzter Wuth, und gab die äußern Kantone den Verwüstungen einheimischer und fremder Heere preis. Oesterreich, seinen alten Groll gegen die Gebirgsstaaten erneuernd, begnügte sich nicht nur Zürich mit Hülfstruppen beizustehn, sondern forderte auch den König von Frankreich zur Unterstützung seiner Absichten auf. Karl VII. von Frankreich benuzte die Gelegenheit seine Staaten von einem wilden, zusammengelaufenen Gesindel aus allerlei Kriegsvolk zu reinigen, welches unter dem Namen der Armagnacs, Straßen und ganze Landstriche unsicher machte. Verbunden mit französischen Truppen, unter des Dauphins Anführung, drang dies

furchtbare Heer über Basel (1444.) gegen die Eidsgenossenschaft an, aber erschüttert durch den beispiellosen Heldenmuth von 1600 Schweizern am Kirchhof bei St. Jakob, zog der Dauphin die Freundschaft eines so tapfern Volks dem unrühmlichen Kampfe vor.

Zürich, umringt von verheerten Geländen, opferte endlich seinen Bund mit Oesterreich der Wiedervereinigung mit den Eidsgenossen auf, und erkaufte die Versöhnung mit Schwyz durch Hingabe einiger Höfe und Dorfschaften, im Frieden von 1450.

Kaum einer zehnjährigen Ruhe bedurften die Schweizer, um mit verjüngter Macht das Haus Oesterreich anzufallen, und dieses zu strafen. Das Thurgäu, so die Eidsgenossen ihm entrissen, wurde der Lohn ihrer neuen Anstrengungen, und der Preis, um welchen Oesterreich seine häusliche Ruhe rettete, nachdem es vergebens den stolzen Herzog Karl von Burgund zum Beistand ermahnt hatte.

Karl, beigenannt der Kühne, ein Prinz von Muth und, für die damaligen Zeiten, bedeutender

Macht, mehr Widersacher Frankreichs, als Helvetiens, schien das alte Burgundische Reich zwischen Frankreich und Helvetien am Jura wieder herstellen zu wollen. Schon hatte er sich Lothringen erobert und dessen Herzog Renatus von Thron und Reich verstoßen. Frankreich zitterte vor seinen Entwürfen. Es wiegelte die Eidsgenossen gegen den furchtbaren Nachbar auf, und jene verführt mehr von Hoffnungen des Gewinns, als Besorgnissen eigner Gefahr, traten willig in den Bund mit Frankreich, Burgund zu lähmen.

So begannen sie den neuen Krieg im Jahre 1474. Die Heere Karls des Kühnen drohten oft den Sturz der eidsgenößischen Staaten; aber die Schlachten von Granson und Murten wurden geschlagen. Mit einem unermeßlichen Aufwand von Kraft und Entschlossenheit rettete sich Helvetien, und das gebeugte Burgund kaufte, nachdem sein Herzog in den Feldern von Nancy gefallen war, den Frieden um 150,000 Gl. (J. J. 1477.)

Außer den neu errungenen Lorbern fiel hier den Schweizern in ihren Siegen eine ungeheure Beute an Waffen, Gold und Kleinodien zu, wie das arme Hirtenvolk nie gekannt hatte. Was Bur-

gunds Waffen nicht vermocht hatten, schien dieser Raub zu bewirken. Die Theilung desselben entzweite die Kantonen; die democratischen Orte drohten den Krieg; die aristocratischen von Bern, Zürich und Luzern, zogen die Stände von Fryburg und Solothurn an sich, mit welchen ihre Regimentsformen ähnlicher waren.

Die Eidsgenossenschaft, zum andernmale der Auflösung nahe, zukte das Schwerd wider einander. Eine Versammlung der Bundesgesandten zu Stans hatte schon die Hoffnungen zum Vergleich aufgegeben, als die Beredsamkeit des frommen Waldbruders Nicolaus von der Flue Eintracht wieder herbeiführte. Die versöhnten Kantonen erneuerten den alten Bund, und nahmen Fryburg und Solothurn in denselben auf. (J. J. 1481.)

So früh schon entblößte die Eidsgenossenschaft den Augen der Welt die Mängel ihrer Verfassung, unter welchen sie einst vergehen sollte!

Noch einmal wagte Oesterreich den alten Versuch, die Eidsgenossen zu unterdrücken. Diese, in Spann und Fehde mit den Städten und Herr-

schaften Schwabens, scheuten den neuen Kampf nicht. Ihr Bündnis von 1498. mit den Gebirgsvölkern der rhätischen Alpen, über welche der Kaiser seine Herrscherrechte behaupten wollte, reizte diesen zum Angrif. Aber acht blutige Treffen, im Lauf eines einzigen Jahres geliefert, lehrten ihn, daß die Helvetier das Kriegsglück ihrer Väter mit deren Heldengeist ererbt hatten. Er nahm den Frieden zu Basel (1499.) von ihren Händen, und lies sie unangefochten in den alten Eroberungen. Schafhausen aber und Basel, welche längst um die Freundschaft der siegreichen Eidsgenossen gebuhlt hatten, wurden bald nach diesen neuen Triumphen (1501.) dem ewigen Bund einverleibt.

Seit zwei Jahrhunderten aus ihrer alten Ruhe aufgestört von Oesterreichs Vergrößerungssucht, seit zwei Jahrhunderten an Kriege aller Art gewöhnt, durch jeden Friedensschluß an Ruhm oder Beute oder Bundesgenossen reicher, entarteten die Gebirgsvölker allmählig. Fremde Leidenschaften verzehrten ihre Gemüther; den ärmern Jünglingen eckelte das einsame Hirtenleben und die Flöte der Alpen; Gold und Kriegsglanz ward ihr Ziel;

die reichern Geschlechter hingegen strebten nach Herrschaft und Staatsämtern, ihre Eifersucht lösete die Ordnung im Innern auf. Durstig nach dem Golde des Auslandes verkauften sie ihre Stimmen fremden Mächten; Selbstsucht wog nie den Vortheil des Vaterlandes neben den Geschenken der Fürsten.

Mailand, Frankreich und Savoien, in ewigen Kriegen verwickelt, verwandelten durch Gold die Kantone der Schweiz in Werbeplätze ihrer Heere. Die streitbare Jugend eilte den Fahnen, bald dieses bald jenes Prinzen zu; oft wanderten aus allen Gegenden Helvetiens angeworbne Lohnknechte bei tausenden in die Fremde, und fanden unter andern Himmelsstrichen ihr Grab, oder kehrten in geschwundener Zahl, reicher an Lastern als Beute, in ihre Heimath zurück.

Jene Auswanderungen, bekannt unter dem Namen des Reislaufens, verursachten in vielen Gegenden oft des Landbaus gänzlichen Stillstand; nicht selten überzog Hungersnoth und, in deren Gefolge, die Pest, den entvölkerten Boden. Oder es rotteten sich zügellose Banden ausgedienter Kriegsknechte zusammen; entwöhnt im Schlachtgetümmel

von häuslicher Tugend und strenger Arbeit, suchten sie in Räubereien und Diebstählen ihrer Schwelgerei Befriedigung. So groß war das Sittenverderbniß der Eidsgenossen, daß sie gestanden, durch ihre Siege mehr verloren, als gewonnen zu haben. Nur in einem Jahre (1480.) wurden in den verschiedenen Landschaften der Schweiz gegen anderthalb tausend Missethäter hingerichtet.

Das Schwerd der Gerechtigkeit kann das Laster schrecken, aber nicht tilgen, wenn Obrigkeiten ohne Muth zur Tugend sind. Die aufeinander folgenden Kriege Frankreichs gegen die Staaten von Italien, reizten den Golddurst der helvetischen Magistrate von neuem im Anfange des sechzehnten Jahrhunderts. Die Schweizer boten den Meistbietenden ihre Waffen und ihr Blut, und indem sich die Eidsgenossen nebst den Bundesverwandten durch die Eroberung vieler italiänischen Landschaften am jenseitigen Fuße der Alpen vergrößerten, entnervten sie sich noch mehr durch Verödung ihrer eigenen Thäler und allgemeine Sittenlosigkeit.

Zu diesen Zeiten wars, daß auch Appenzell (1513.) in den ewigen Bund der Eidsgenossen trat,

und denselben so vervollständigte, wie er bis zur endlichen Auflösung blieb.

Helvetien nicht allein krankte am sittlichen Verderben. Die meisten Völker Europens, verwildert in unaufhörlichen Kriegen, theilten dies traurige Loos. Seit den Siegen des Christenthums über der Vorwelt Vielgötterei, seit der Zertrümmerung des ungeheuren Römerreichs durch die Triumphe wandernder Barbaren-Völker, hatte unser Welttheil seine alte Gestalt verloren. Von den Gestaden Hesperiens bis zu den Wüsteneien am schwarzen Meer war gleichsam eine neue Urwelt gebildet, worin die verworrenen Völkermassen chaotisch durcheinander wogten, sich für Augenblicke erhoben, und dann für immer vernichteten. In diesen furchtbaren Stürmen, deren Wirbel nach anderthalb tausend Jahre noch sichtbar, wenn gleich minder ungestüm und allgemein, forttobten, waren die Kleinodien der Vorwelt, Wissenschaft und Kunst untergegangen; nur ihre unvernichtbaren Elemente hörten nicht ganz auf zu wirken; im gleichen Verhältniß mit den Ermattungen des politischen Orkans, sammelten sie sich stärker zu einander und schieden die Gährung.

In

In Deutschland und Helvetien zugleich entstanden einzelne Männer, voller Licht und Kraft, eifernd gegen die Unwissenheit der Lehrer des Christenthums, und gegen die Mißbräuche der Kirche. Die weltlichen Obrigkeiten, längst im vergeblichen Kampfe mit der Macht des Clerus, und im Gefühl, daß die Weisheit aller Gesetze ohne des Volkes Sittlichkeit eitel sey, begünstigten den kühnen Gang der Kirchenverbesserer. Bald schieden sich Partheien, Gemeinden und Völker. In Helvetien traten mehrere Kantone zur verbesserten Kirchenzucht und Lehre. Nur die Waldstätte erklärten sich früh getreu der alten Kirche, und wichen nicht von ihr.

Der eingeführte Unterschied des Glaubens machte die losen Bande des Schweizerbundes lockrer, als je. Religionseifer, angeblasen von beider Partheien Priestern, loderte in allen Gemüthern; politischer Ehrgeiz, Vergrößerungslust und Nebenbuhlerei traten mit der Glaubensschwärmerei in Bund und bereiteten in unzähligen Händeln den Stoff neuer Bürgerkriege.

So wie Schwyz ehmals an der Spitze helvetischer Democratien die Sache derselben gegen

Zürich führte, so nahm Schwyz auch in Glaubenssachen die gleiche Rolle wider gleichen Gegner. Zürich, in dessen Mauern der erste Reformator lebte, erhob sich zum Vorort der evangelischen Stände, und suchte, wohin sein Einfluß drang, die neue Lehre zu verpflanzen. Bald standen die beiden vorfechtenden Kantone gegen einander in offener Fehde; beide, indem sie mit gleicher Leidenschaft ihr Ziel verfolgten, zertraten das Heiligthum alter Ordnungen, und Völker- und Menschenrechte. Schwyz mißhandelte die Bürger von Zürich, und schleppte einen reformirten Prediger zum Scheiterhaufen. Zürich, mit den Evangelischen von Glarus vereint, nahm die Lande des Abtes von St. Gallen in Besitz, und wollte dieser Abtei Verweltlichung erzwingen. — Bald darauf (1529) zogen beider Partheien erbitterte Heere bei Kappel gegen einander; doch noch einmahl gelang den rührenden Vorstellungen der Vermittler, Vergleich und Frieden zwischen den Zürnenden.

Aber weder Zürich noch Schwyz hatten, mit den Waffen, ihre Eifersucht und frühern Wünsche niedergelegt. Obwohl sie gelobt hatten, daß bei Religionsänderungen kein Theil Zwang und Ge-

walt üben solle, waren sie doch beiderseits im Eifer schon zu tief verloren, als daß ein Federstrich sie in das alte Geleis hätte zurükzaubern, oder die entflammten Herzen des Volks hätte kühlen können.

Die Gewaltthaten Zürichs in den Abt St. Gallischen Landen, die schnelle Verbreitung des neuen Glaubens in den gemeinschaftlichen Vogteien zerrissen bald das zarte Band des Friedens. Die Schwyzer (1531) brachen mit ihren katholischen Bundesbrüdern aus den Gebirgen hervor, schlugen die Schaaren der Züricher bei Kappel und am Zugerberge, und erzwangen durch blutige Siege und unerhörte Grausamkeiten einen Frieden, welcher für alle Zeiten den Fortgang der Reformation in Helvetien hemmte.

Die Eidsgenossenschaft, von nun an in katholische und evangelische Hälfte geschieden, blieb aber den Erschütterungen des Religionseifers noch lange preis. Die Stände gleichen Glaubens zogen vertraulicher zusammen, und stärkten sich gegenseitig durch auswärtige Bündnisse, durch Einverständnisse mit Mächten

ihrer Kirche. — Die Priester beider Theile ermüdeten nicht in Schriften und Reden ihre heilige Wuth dem Volke einzuflößen und Bekehrte zu schaffen. Ein ganzes Jahrhundert strich über diesen Gährungen hin; ein so großer Zeitraum, sonst fähig die wildesten Leidenschaften der Menschen aussterben zu lassen, sammelte ihnen diesmahl nur Nahrung.

Die Grausamkeit, mit welcher zu Schwyz die Verwandten von sechs, zum evangelischen Glauben übergetretenen Schwyzer-Familien behandelt wurden, wekte den allgemeinen Unwillen der protestantischen Stände. Ein neuer Religionskrieg ward erklärt (1655) und mit ausgelassenem Grimm geführt. Die Luzernerischen Völker überfielen und schlugen das Bernerheer bei Villmergen; Rapperswyl bestand eine Belagerung von den Zürichern.

Doch schnell genug glükte es noch einmahl den unpartheiischen Kantonen, den Frieden der Eidsgenossenschaft herzustellen. Furchtsam vor Einmischung fremder Mächte in ihren häuslichen Streit, und erdrükt von der Kriegskosten Last

sehnten sich die kämpfenden Orte selbst zum ehrenvollen Vergleich.

Denn die Vergrösserungen der an helvetische Gränzen lehnenden Mächte beschäftigten bald vorzüglich der Eidsgenossen Aufmerksamkeit. Die kolossalischen Monarchien Frankreichs und des österreichischen Kaiserhauses, im ewigen Hader um ihre Grösse, öffneten bald in den Ebnen Deutschlands, bald in den Fluren Italiens die Schlachtfelder ihres Stolzes. Gemeinschaftliche Gefahr lehrte immer die Schweizer enger an einander halten, und ihre eignen Zwiste vergessen. Es geschah auch diesmahl. Doch auch izt erlaubte der Stände erbliches Mistrauen nicht, daß sie sich zur Vervollkommnerung des eidsgenössischen Bundeswesens vereint hätten. Gefesselt von den Banden der Gewohnheit, stolz auf eigne Vorrechte, geschieden durch Sitte, Religion und Eifersucht, wagte keiner einen Theil seiner Rechte zur Stärkung des ganzen Bundesstaats hinzuopfern. Daher gebrach es nie an innern hartnäckigen Zwisten, deren Glut nur zu oft mit dem Blute des Bürgerkriegs gelöscht werden mußte, wie noch im Anfang des achtzehnten Jahrhunderts geschah.

Die Aebte von St. Gallen, welche das Land Toggenburg durch Kauf an sich gezogen hatten, stellten den Rechtsamen der Einwohner nach. Diese lehnten sich endlich gegen des Gotteshauses treulose Anmaaßungen auf. Bern und Zürich unterstützten das gebeugte Toggenburg; die katholischen Stände aber nahmen die Sache des Abtes in Schirm. Der alte Glaubensgroll, halb eingeschlummert schon, erwachte unter diesem Hader abermahls und führte die Eidsgenossen von neuem gegen einander ins Feld (1712). Mit schauerlicher Wuth begegneten sich die Streitenden. Villmergen ward zum andernmahl das Schlachtfeld der Schweizer gegen Schweizer; aber Bern, einst dort besiegt, zog vergeltend als Sieger über die Todten der katholischen Orte hin, und gebot den Frieden von Aarau.

Noch oft empfanden die Eidsgenossen des Fanatismus unvergänglichen Grimm, welcher aber, er mogte sich zu politischer Zwietracht gesellen, oder allein stehen, niemahls wieder die Fahne des Bürgerkriegs in Helvetien heben konnte, bis zu den spätern Zeiten des Jahrhunderts, in den Tagen des Untergangs der Eidsgenossenschaft.

Seitdem der westphälische Friedensschluß die Unabhängigkeit und Souverainetät des Schweizerbundes feierlich anerkannt hatte, wagten die Genossen desselben nie wieder in ausländischen Kriegen ihr Heil aufs wankelmüthige Spiel. Kein andrer Kampf, als welcher um Freiheit des Vaterlandes geführt wird, kann Lorbeern gewähren, würdig des dafür vergossenen Bluts. Zwar gebrach es den Helvetiern nicht an schweren Versuchungen, in den Händeln der Nachbaren. Der dreißigjährige deutsche Krieg, Ludwigs XIV. von Frankreich verwegner Ehrgeiz, und der schreckliche Hader um die spanische Erbfolge, schienen oft der Schweizer stolze Ruhe verderben zu müssen. Doch zufrieden, mit bewaffneter Faust ihres Landes Pforten zu bewachen, erhielten sie, ohne Schlachten, das Ziel alles Kriegs, ehrenvollen Frieden, und ihrer Tapferkeit alten, unentweihten Ruhm.

Der angränzenden Länder grosse Staatsveränderungen mußten der Eidsgenossen Entschlossenheit zum ewigen Frieden befestigen. Die vielen einzelnen kleinen Staaten, von denen sie ehmahls gefahrlos umringt wurden, waren in wenige große Reiche zusammengeronnen. Im Aufgang, wo

ehmahls ein Herzog von Oesterreich ohnmächtig trozte, im Süden, wo sonst ein Herzog von Mailand um ihre Hülfe flehte, herrschte nun der Zepter eines einzigen Monarchen, vom Rhein und den Gestaden des adriatischen Meers bis an die Wüste der Tartaren. Burgund war verschwunden in der Masse der französischen Monarchie, welche, vom Fuße des Jura und der Alpen bis zu den Pyrenäen ausgebreitet, Europen fast eben so oft mit seinen Waffen schrekte, als mit seinen Sitten beherrschte. Der Regent Savoiens trug jezt eine königliche Krone, und das deutsche Reich hatte durch festere Verbindung seiner Theile eine Stärke gewonnen, die ihm ehmahls fremd war.

So wie unter diesen Verhältnissen die Eidsgenossen den Eintrit in ausländische Zwiste mieden, verminderten sie auch die eignen, furchtsam vor der Nachbaren erdrückenden Einfluß. Die vielfältigen Bürgerkriege, und daraus erwachsnen theilweisen Verbindungen, hatten unter ihren kleinen Staaten ein Gleichgewicht hergestellt, dessen Aufhebung jedem von ihnen gleiche Gefahr drohte.

Also kehrte die seit Jahrhunderten verbannte Ruhe zu den Gebirgsstaaten zurük. In dieser

Stille erstarb allmählig der Reiz jener mächtigen Leidenschaften, welche nur im Kampf steigen können und Heil finden. Gewohnheit heiligte bald diesen glüklichern Zustand, und die häuslichen Tugenden, welche an die Stelle der kriegerischen traten. Sich so den sanftern Geschäften des Friedens weihend, und geschmeichelt durch die Thaten der Vorwelt, ohne sie zu beneiden, überließen sich, sorglos um die Stürme des Auslands, die Völker Helvetiens dem Genusse, doch nicht ohne Gefühl, alles und jederzeit werden zu können, was sie einst waren.

Jenes flüchtige Bildniß der Vorzeit aber lehrt, daß, wie das Hirtenvolk von Schwyz eines der ersten war, welches durch kühnen Troz die Freiheit Helvetiens schuf, es auch fortdauernd, obwohl dürftig an Mitteln, doch reich an innrer Kraft, seinen Einfluß auf die Eidsgenossenschaft in den wichtigsten Ereignissen behauptete. Immer seiner Denkart getreu, welche weder ein Sturm beugen, noch Ruhe lähmen konnte, verharrte es so bis zum lezten Tag der Eidsgenossenschaft.

5.

Zwei Heiligthümer sind es, über welche das Volk von Schwyz nichts Erhabners kennt, Freiheit und Religion. Für beide trat es mehrmahl unter die Waffen; für beide focht es mit gleicher Theilnahme noch in unsern Tagen gegen Frankreichs überlegne Heere.

Schon früh wurde die Saat des Christenthums in diesen Gebirgen ausgestreut: Ein Schüler des Apostelfürsten Petrus, Namens Beatus, so erzählt die ungewisse Ueberlieferung, soll schon im ersten Jahrhundert unsrer Zeitrechnung zu diesen Thälern gekommen seyn, ihnen den gekreuzigten Gott zu predigen. Yberg, eine Schwyzergemeinde auf wilder Anhöhe gelegen, rühmt sich, in ihrer anmuthslosen Einsamkeit lange jenen Heidenbekehrer beherbergt zu haben. Mehr aber noch, als er, soll der heilige Martinus durch Wort und Wunderkraft im heidnischen Schwyz und Uri vermogt haben; dankbar erhoben beide Länder ihn zu ihrem Schirm-Heiligen.

Gewisser als jene Sagen, sind die Verdienste der fränkischen Könige um die Bekehrung der hel-

vetischen Gebirgsbewohner. Eben so eifrig ihre weltliche Macht auszubreiten, als das Reich der christlichen Kirche, mußte diese den Gewaltthaten der Eroberer gegen friedliche Völker bald Vorwand, bald Heiligkeit geben.

Die Christen der Gebirge blieben aber ohne eigentlichen Hirten und Bischof, bis zur Errichtung des Bisthums Constanz (J. 570). Da wurden sie in geistlichen Angelegenheiten, so wie das gesammte Zürichgäu, diesem einverleibt.

Noch weit länger verzog sich die Eintheilung des Landes in Pfarreien, welche erst im zwölften Jahrhundert zu Stande gekommen zu seyn scheint. Vorher waren in den Waldstätten nur wenige Kirchen, wohin das Volk aus dem ganzen Lande zehn oder zwölf mahl des Jahres zusammenflos, seiner Andacht zu pflegen. Aus alter Ueberlieferung wissen wir, daß die Länder Unterwalden und Schwyz (wahrscheinlich in den Zeiten des sechsten und siebenten Jahrhunderts) lange nur einen einzigen Priester gemeinsam besaßen, und daß die Christen von Schwyz einmahl zur Kirche St. Jakob auf Ennetmoos in Unterwalden, das

andremahl die Unterwaldner zur alten Kirche auf Yberg gezogen sind.

Als sich nun in den Thälern das Häuflein der Gläubigen mehrte, vervielfältigten sich im gleichen Verhältnis ihre Andachtsstätten. Es geschah besonders im achten Jahrhundert. Doch blieben ihre Tempel lange ohne jenen äussern Pomp, welcher früher schon in andern Gegenden den Verfall der Religion verschleiern mußte, den er nicht abwehren konnte. Die Kirchen waren meistens nur von Holz; statt der Glocken bediente man sich eines Hornes, dessen Schall die Schaaren der Andächtigen versammelte; kein goldner Kelch schmükte den Altar; ein hölzerner genügte, und zu Mesgewand und Fahnen diente Linnen.

Bei der Seltenheit der Priester in frühern, und ihrer Unwissenheit in spätern Zeiten, konnte es nicht fehlen, daß das Christenthum in den schweizerischen Berg- und Wald-Landen ohne jene milde Gewalt über die Herzen blieb, welche es in andern Weltgegenden unter den Völkern übte. Die ersten Verkünder des Evangeliums in der Alpen-Wildnis rangen mehr nach dem Umsturz abgötti-

scher Altäre, als nach Veredlung der Gemüther. Die Thorheiten des Heidenthums und die alte Rohheit der Herzen vermählten sich willig mit einem neuen Gottesdienst, der, ohne das Irrdische zu verbittern, dem Anhänger die Pforten des Himmels öffnete.

So blieben sich diese Hirtenvölker als Heiden und Christen gleich. Mit den Tugenden aller rohen Völker hatten sie deren Laster gemein. Gastfreundlich in ihren einsamen Hütten, unverstellt für Freund und Feind, treu dem dargegebnen Wort, schweiften sie zur Zeit des Krieges über göttliche und menschliche Rechte hinaus, daß sie bald nich minder durch Siege als Grausamkeiten berühmt wurden.

Nicht selten war ihr Freiheitsgefühl mit der Ehrfurcht in Zwist, welche sie der Kirche schuldig waren. Aber jenes blieb immer vorherrschend, und die Kirche sah sich untergeordnet. Willig anerkannten sie die Hoheit derselben, und deren Wirkungskreis über die Gefilde des künftigen Lebens; aber in ihren heimathlichen Thälern auf Erden traten sie keine Herrschaft ab. Früh genug

legten sie diese Denkart in dem Marchenstreit mit dem Gotteshause Einsiedeln dar; arglos hingen sie nachher Kaisern an, auf welchen der Fluch der Kirche ruhte; und als sie selbst der, andern Völkern so fürchterliche, Bannstrahl traf, zwangen sie ihre Priester zur Haltung des Gottesdienstes, und trauerten nicht.

Der Krieg, dem sie Jahrhunderte lang oblagen, milderte die alte Rohheit nicht, und machte sie nicht unterthäniger dem Ansehn der Kirche zu einer Zeit, da Könige und Kaiser ihren Hals vor Priestern bogen. Eben die Hirten, welche mit Andacht auf den Gräbern ihrer Freunde für deren Seelen flehten, oder mit Weib und Kindern kniend unter freiem Himmel auf der Wiese lagen, auf welche sie im Jahr das erstemahl ihr Vieh zur Weide trieben, (ein Gebrauch, der sich noch in unsern Tagen nicht verloren hat) — eben dieselben zerstörten im Kriege Kirchen und Klöster, mishandelten gottgeweihte Personen am geplünderten Altar, und selbst ihre heiligsten Festtäge bezeichneten sie nur mit glänzenden Siegen.

Der Aberglaube und die Freuden des Heidenthums, zu theuer dem bildungslosen Naturmen-

schen, behaupteten lange noch ihre Herrschaft über den Gebirgsbewohner. Sie fanden in dessen Gemüths- und Denkart mächtige Schuzredner gegen des strengen Christenthums Glaub' und Lehre. — Manches davon pflanzte sich durch die Geschlechter fort bis zu unsern Zeiten, so sehr auch frommer Priester Eifer dagegen zürnte.

Dahin gehörte, um bezeichnende Beispiele zu geben, unter manchen andern Uebungen auch das zu Kilt-Gehn, oder der Liebenden nächtliche Besuche bei den Geliebten vor der Hochzeit. Der Jüngling, am Tage mit häuslicher Arbeit beschwert, kann nur die der Ruhe geweihten Stunden der Nacht zum Umgang mit seiner, in entfernter Hütte wohnenden Freundin erübrigen. Hier lernt er sie kennen; hier werden Entwürfe gesponnen für die Zukunft. Minder gefahrvoll für die Unschuld, als izt, scheint ehmahls bei einfacherer Lebensweise diese Uebung gewesen zu seyn. Die Eltern, eingedenk ihrer Jugend, wehrten minder des Freiers nächtlichen Eintritt zum Kämmerlein ihrer züchtigen Tochter, als es der Jünglinge Eifersucht selbst that. Vermummt und mit verstellter Stimme lauerten diese gewöhnlich den Neben-

buhlern auf, die ihnen in gleicher Verkappung begegneten. Unter den Fenstern der Geliebten ward oft ihrer Leidenschaft Kampfplaz. Das Mädchen ehrte den von den Jünglingen gefürchteten Sieger. — Noch heutiges Tages hat jene Sitte sich nicht ganz verloren. Die liebenden Mädchen in den Schwyzergebirgen kennen das Getöse der Nachtbuben.

Still ist der Urner, düster der Unterwaldner. Wie an kräftiger Schönheit, übertrift der Schwyzer seine Nachbaren in Frohsinn und Lebhaftigkeit. Der Tanz wird ihm zur leidenschaftlichen Sache; kein Fest ohne ihn. Mannigfaltiger und getümmelreicher wurden in dem helvetischen Hochland nirgends die Saturnalien der Faßnacht gefeiert, nirgends Tanz, Verkleidung der Weiber und Männer und Muthwill reger Jugend ungehinderter gelassen, als hier. Die Kirche gewährte dem Schwyzer keine willkommnere Festzeit. Viele hundert Feuer brannten sonst nächtlich auf allen Anhöhen im Lande; chorweise wurde um die Fasten-Feuer getanzt; das Jauchzen der Glüklichen drang in die fernen Thäler; Schmause beschlossen das Fest.

Geräusch-

Geräuschvoller noch war die Feier des Abends vom Heil. Dreikönigstag. Männer und Knaben durchschwärmten johlend das heimathliche Thal, mit Glöklein und Klappern, und Schellen und an einander schlagenden Becken. Alles was lärmend war, wurde angewandt zum allgemeinen, lustigen Getöse. Umsonst eiferten lange gegen diesen wilden Taumel oder gegen „das Greiffeln“ Priester und Seelsorger, von Kanzel und Beichtbank. Erst nach und nach erlosch der wunderliche Brauch.

Eben so ist mancher Aberglaube untergegangen, welcher ehmahls in den schwyzerischen Thälern galt. Man lauschte auf die Gestirne, künftiger Schiksale willen; oder auf das Geschrei der Hunde und Vögel; oder fürchtete gewisse unglükliche Tage im Monat. — Man erinnert sich noch des „Andreßelns“ am St. Andreasabend. Da entkleidete sich die neugierige Person, welche vorauswissen wissen wollte, mit wem sie einst durchs Eheband verknüpft werden würde, und zog das weissagende Loos.

## 6.

Das den Heiden gepredigte Christenthum war ursprünglich einfach und arm. — Die Taufe, Erlernung des Kreuzes und einiger Gebete reichten hin, dem wilden Gebirgsmann den Schoos der Kirche zu öffnen. Aber der fromme Eifer der Mönche und Priester, Ehrgeiz und Unwissenheit der Geistlichen und Laien, schmükten bald mit unzähligen Erfindungen das neue Lehrgebäud aus.

Der kindliche Geist des Volks, allzudürftig an Kraft, den hohen Sinn der Religion in Erkenntnis und That zu erreichen, schmiegte sich willig in das kirchliche Gängelband; nahm willig eine Menge von Feierlichkeiten und Uebungen auf, die zugleich seine Sinnlichkeit reizten und herrlichen Lohn in dem unbekannten Lande jenseits des Grabes verhiessen.

Wir finden, daß in den schwyzerischen Thälern ehmahls mehr, denn izt, ausser den allgemeinüblichen katholischen Gebräuchen noch manche andre statt fanden, welche nur hier gewöhnlich besonders die Geheimnisse der Religion versinnlichen sollten. Es sey mir erlaubt einige derselben an-

zuzeichnen, als Beiträge zur Sittengeschichte des Bergvolks. *)

Am Weihnachtstage wurden in allen Pfarrkirchen des Landes mit Figuren in der Grösse eines jährigen Kindes die Geburt Christi und damit verwandte Begebenheiten vorgestellt — ein geistliches Marionettenspiel.

Am Palmtag wurde eine, den Welterlöser vorstellende Puppe auf einem Esel sitzend, im Dorf herumgeführt. Geistliche, Vorsteher des Volks und Richter, die Bewohner des Orts und der Nachbarschaften, alles strömte mit Palmen herbei, und mit dem Hosiannaruf Jerusalems.

Mit ähnlichem Ernst ward am Charsamstag Christi Auferstehung aus dem Grabe gefeiert. Doch lieblicher dem Volk und den Kindern war die Himmelfahrt des Gottmenschen. In der Kirchen Mitte stand sein Bildnis. Es ward, unter dem

*) Aus einem Manuscript im Pfarrhof zu Schwyz, der Kirchenschaz p. 3. — Kirchen-Ritus-Buch — Schwyzerische Alterthümer von Jos. Thom. Fassbind. 2 Theil. fol. 43. ebenfalls Manuscript.

festlichen Sange der Gemeinde, mit hundert Blumenkränzen behangen von den Händen der Kinder, und dann emporgezogen gegen die Wölbung des Tempels, zur Versinnlichung der Himmelfahrt, unter dem Geläut aller Glocken. Von oben herab schüttelte der gen Himmel Geschwebte, Blumenkränze, Nüsse, Oblaten u. s. f. auf die jauchzende Menge herab.

Lange herrschten dergleichen Kirchengebräuche unter den rohen, gutmüthigen Bergbewohnern. Noch in unsern Tagen erhält sich ihr Ueberrest. Der sinnliche Zauber, indem er den ernsten Geist der Religion verschleierte, und die strenge Moral Jesu vergessen lies, fesselte um so stärker des Volkes kindliches Herz an die Kirche. Mit ihm vereinte bald die Gewohnheit ihre wachsende Macht.

Hiemit löset sich das Räthsel, daß die Gebirgsbewohner zu eben der Zeit, da unter ihnen der Religion und christlichen Sittlichkeit am wenigsten zu finden war, dennoch der alten Mutterkirche am getreusten blieben. — Zwingli's Lehre bewog den größten Theil der helvetischen Freistaaten zum Abfall von des Pabstes Stuhl; nur die Waldstätte wankten nicht.

Eifrig im Glauben, aber ruchlos in Thaten, zogen die Schaaren der Berglande, mehr als einmahl, ins Feld gegen die der neuen Lehre holden Kantone. Immer lüpften die Schwyzer das Kriegs-Banner zuerst für die alte Religion; nie waren sie verschwenderischer mit Stiftungen, Gelübden, neuen Festtägen, als damahls, und nie waren bey ihnen Ueppigkeit, Unmässigkeit, Raubsucht, Bestechung und andre Laster in wilderm Schwange. Dies erhellt aus den Verordnungen, so sich von jenen Tagen her erhalten haben. Die Gesetze der Zeiten aber sind die Geschichte derselben.

Inzwischen das Volk mit den Waffen die alte Lehre verfocht, rangen die Priester mit gleichem Eifer gegen die gewaltsam fortschreitende Kirchenveränderung. Es erbot sich sogar Bruder Niclaus Zwyer gegen Zwingli's Jünger zum Gottesurthel, für Wahrheit der katholischen Lehre durch Flammen doppelter Scheiterhaufen zu wandern.

## 7.

Die Geistlichen, bekümmert um das Heil ihrer Kirche, mußten noch schwerere Sorge für die Erhaltung eignen Ansehns tragen, zur Zeit der Reformation. Unwissenheit und Sittenlosigkeit der Diener des Altars hatte die Kirchenverbesserung überall entweder hervorgerufen oder begünstigt.

In den ersten Zeiten des Christenthums umgab die Ehrfurcht des Volks den Verkünder des Evangeliums. Uneingedenk der Gefahren, welche der Grimm des sinkenden Heidenthums gegen ihn bereitete, sich selbst verbannend in die rauhen Thäler ungesitteter Bergvölker, verdiente sein Eifer Bewunderung. Damals lohnten noch keine reiche Pfründen seine Mühe um der Seelen Heil. Er selbst mußte für seines Lebens Bedürfnisse sorgen, für Nahrung, Kleidung und Schirm gegen die Härte des langen Winters in den Bergen. Er war Pfarrer, und Schmid oder Schreiner oder Taglöhner, zugleich.

Bald aber stieg der Geistlichen äussere Hoheit. Im Namen ihrer Herrschaften übten sie hin und wieder, wo solche waren, weltliche Rechte, wie

zu Arth, zu Morschach, zu Steina geschah. Bald darauf schufen sie eigenmächtig Gesetze für ihre Angehörige, foderten von ihnen Bannschaz und Zehnden, machten sich selbst landsteurenfrei; ernannten sich selbst ihre Helfer und Caplanen, und luden in strittigen Fällen die gefreiten Landleute außer Lands vor Gericht. — Man erlaubte ihnen in obrigkeitlichen Versammlungen bei weltlichen Geschäften zu sitzen; ja man findet noch bis zu Ende des XVII Jahrhunderts in den Urkunden ihre Namen vor jenen der Landammannen unterzeichnet.

Als aber mit Anbruch des XIV Jahrhunderts in den Waldstätten der Geist der Freiheit erwachte, tastete er auch die weltliche Macht des Clerus an. Ein besonderes Gesez, der Pfaffenbrief geheissen, dämmte die Macht der Kirche in weltlichen Dingen ein; es ward ihr in leztern der Richterstab entrissen, und das Recht Schweizer-Bürger vor ausländisches Tribunal zu laden. Weltliche Obrigkeit sezte die Pfaffen an und ab, und zwang sie zulezt alljährlich um Beibehaltung ihrer Pfründen zu bitten. Im XVII Jahrhundert fing man sogar an, ihnen die Zehnden wegzunehmen, sie in die

allgemeinen Landsteuern einzubegreifen, und zu verbieten, den Klöstern, wie ehmahls, liegende Güter zu schenken, oder zu verkaufen *). So handelte das freie Landvolk in den Gebirgen, ehe Zwingli's und Luthers Licht schien und Fürsten zu ihnen traten.

Aber all diese Umzäumungen der priesterlichen Gewalt hinderten es nicht, daß die Geistlichen nicht immer einen, mit jenen Beschränkungen oft kämpfenden Einfluß behauptet hätten. Sie, indem sie allen andern Landleuten gleichgestellt

*) Schwyz. Landbuch. Tom. I. „Niemand soll den Klöstern Grundstük zu kaufen geben, oder sonst vermachen, bei 5 Pf. Buß. Das verkaufte oder vermachte Gut aber soll dem Land heimfallen.“ — Item: „Wenn die Klöster in unserm Land nicht wollten helfen tragen Schaden, Gemeinkosten, Steur und andre Gewerffe mit dem Land, als ein andrer Landmann, sollen sie meiden Holz, Feld, Wasser, Wuhr und Weid. Act. 1507.“

Eine öffentliche Landsgemeinde verurtheilte 1683 die Priesterschaft bei allgemeiner Landesauflage zur Entrichtung der Steuer.

Im Jahr 1723 ward dem Clerus auch die Auflage des sogenannten Angstergeldes gemacht, troz der bischöff. constanzischen Protestation dawider.

wurden, behaupteten auch als solche die Rechte und Vorzüge des Bürgers. Sie hatten ihre Stimme in den Landsgemeinden, und wurden mit Ehrerbietung gehört. Wenn sie sich zur Rede erhoben, entblößte jedermann sein Haupt und Stille waltete. Ihrer Einsicht und Beredsamkeit Uebergewicht lenkte des Volks Entschlüsse, besonders in neuern Zeiten, da man von den Pfarrern vorzugsweis Kenntnisse soderte. Denn bis zum XVI Jahrhundert konnten ihrer die wenigsten schreiben und lesen. Man darf daher nicht staunen, wenn in Verordnungen (wie z. B. in alten Ordonnanzzetteln der Pfarr Yberg, Muthathal, Morschach u. s. w.) die Bedingung angefügt ist, daß keiner zum Pfarr solle angenommen werden, „er könne denn lesen und schreiben.“

Indem also der Geistlichen Autorität in Thatsachen verschwand, suchten sie den Verlust durch äussere Ehrenbezeugungen von Seiten des Volks auszugleichen. In frühern Zeiten und bis ins XVII Jahrhundert herab empfingen Meßpriester und Bischöffe die einfache Benennung: „Ehrwürdiger Vater in Gott“! Aebte und Klöstervorsteher nannten sich selbst nur „Brüder,“ — die Pfarrer

bezeichnete man mit dem Worte „Lyt-Lipp“ d. i. Leutpriester. Aber mit den langen Priestergewänden und Bärten verlor sich jene Einfalt, und blendende Titulaturen traten an deren Stelle.

---

8.

Da die Gesezgeber des schwyzerischen Freistaats der Pfaffen Hoffarth und Mißbräuche eben so weise als standhaft einschränkten, zeichneten sie zugleich mit fester Hand die Scheidelinie zwischen Staat und Kirche. Der Staat für diese, die Religion für jene Welt wichtig, däuchte ihnen die Vermischung beider unnüz. Sie machten die Religion zur besondern Angelegenheit aller einzelnen Bürger, den Staat zur öffentlichen Sache des Ganzen. Nicht weil das durch Religion gebildete Sittlichkeitsgefühl Brustwehr der Gesetze und des Familienwohlstandes seyn sollte, sondern wegen der durch Andachtsübungen erwerblichen Huld der Heiligen und der Gottheit für einzelne Menschen, für Dörfer oder für das gesammte Land, war bei ihnen die Beschirmung der Kirche eine Sorge des Staats. — Wie einst in den

Zeiten des republikanischen Griechenlands jeder Baum, jede Quelle, jede Stadt seinen Schuzgott besaß, kannte hier jedes Dorf, und jedes Gewerb seinen Schirmheiligen. Das ganze Land hatte den Martinus zum Schuzpatron. In den Tagen der Gefahr nahm man zu den Altären dieser Heiligen Zuflucht; bessere Sitten waren selten die Frucht öffentlichen Unglüks.

Unvermerkt wurde in neuern Zeiten diese Art der Religiosität abermahls der Stoff, aus welchem der Geistlichen rastlose Betriebsamkeit das halb zerrissene Band zwischen Staat und Kirche herstellte, und endlich diese mit jenem wiederum so eng und innig zu vereinen wußte, wie nie in frühern Zeiten geschehen war.

Die katholische Religion ward wieder ganz Staatsreligion, in dem Sinne, wie es die mosaische zur Zeit der Israeliten, oder der Polytheismus in Griechenlands und Roms Tagen gewesen. Nie hätte man glauben sollen, daß die römischkatholische Kirche solcher Biegsamkeit fähig, und mit einem Freistaate so ganz vermählbar wäre. Auch sind die helvetischen Gebirgsrepubliken die einzigen, welche davon das Beispiel aufstellen.

Seit dem ruhmvollen Tage von Morgarten athmeten die Schwyzer nur für Freiheit, Vaterland und Sieg. Ihre Priester begleiteten sie ins Feld, und flehten den Beistand der Heiligen an, wenn sie schlugen. — Den Heiligen ward Dank gebracht nach gewonnenen Schlachten. Diese Dankbarkeit währte in der Erinnerung der glüklichen Kämpfe fort. Jährlich erneuerte man die Siegesfeste. Diese begingen sie in kirchlichem Glanz.

So haben die Schwyzer den Samstag nach St. Martinustag, als an welchem sie bei Morgarten gesieget, ewig zu feiern und zu halten verlobet. Und ist dies Gelübde im J. 1521 an einer offnen Maien-Landsgemeinde auf der Weidhub bestätigt worden. *)

*) Tschudis Chronik. Mscpt. cf. 442. u. T. 2. S. 274. Der Vorabend dieses Nationalfestes war ein allgemeiner Fasttag, zum Angedenken der grossen Furcht des Landes, welche dem Siege vorherging. Denn, sagt Joh. Vitoduran. in Chron. Suitii audientes, se bello lacessiendos, orationibus et jejuniis, processionibus litaniisque deo se commendarunt, et clamavit omnis populus ad dominum in instantia magna et humiliaverunt

Im J. 1443 beschlossen sie ihren Sieg bei Nagaz über die Oesterreicher zu feiern am St. Fridolinstag alljährlich; den herrlichen Triumph bei Murten 1476 begingen sie festlich am zehntausend Rittertag; und daß sie bei Cappel die unkatholischen Orte schlugen, wie sie sagten, unter Marias besonderm Beistand, gelobten sie für sich und all ihre Nachkommen ewig an den Tagen Marias zu feiern.

Unvergessen blieb das Andenken der Vaterlandsvertheidiger, welche muthvoll in den Schlachten der Freiheit ihr Leben geopfert hatten. Ihre Namen kamen in allen Gemeinden auf die Nachkommenschaft. Die spätesten Enkel beteten noch für das Heil ihrer Seelen, und das Land stiftete ihnen „Jahrzeiten“, wo für sie an den Altären Meßopfer gebracht wurden.

So finden wir, daß schon 1316 ein Meßopfer gestiftet ward für die Helden, so am Morgarten für's Vaterland fielen. Ihr Tag ward begangen

animas suas in jejuniis ipsi et mulieres suae et clamaverunt unanimiter ad deum, ne darentur ad praedam, etc.

in den Kirchgängen von Schwyz, Arth, Steina, Muthatal, Sattel und Morschach. — Und 1386 für die, so zu Sempach in der Schlacht umkamen; — im J. 1445 für die, welche in den langwierigen Kriegen gegen Oesterreich das Leben einbüßten; im J. 1476 denen gebliebenen Helden von Laupen, Murten, Granson und Nancy; im J. 1499 für die, welche bei Ragaz und im Schwabenkriege umgekommen; im J. 1532 zum Heil derjenigen, welche in der Schlacht zu Cappel und am Zugerberge starben, und andre Tage mehr. *)

Wenn Rom und Griechenland ihren ersten Helden Ehrensäulen aufrichteten auf öffentlichen Plätzen, erbaute das fromme Waldstätten den seinigen Kapellen an denjenigen Orten, wo sie ihre That fürs Vaterland vollzogen. — Uri errichtete eine solche seinem Heroen Wilhelm Tell zu Bürglen am Eingang ins wilde Schächenthal, wo er wohnte, und eine andre an den Klippen des Seegestades, wo er seinen Wächtern im Sturm entsprang. Nicht minder dankbar seinem Angedenken weihte ihm Schwyz eine dritte, da, wo in

*) S. die alten Jahrzeiten-Bücher von Schwyz unter den angeführten Jahreszahlen.

der hohlen Gasse zwischen Immisee und Küßnacht durch seinen Pfeil der Tyrann fiel.

Dem Angedenken Werners v. Stauffach, eines der drei Helden vom Grütli, widmeten seine Mitbürger von Steinen eine besondere Capelle. Sie stammt aus dem Jahre 1400.

Selbst der Schlacht von Morgarten ist zum ewigen Denkzeichen, in der daran gränzenden Matte, Schorno genannt, die Ehrenkapelle aufgeführt worden.

Die Freundschaft der alten Freiheitsstifter, so sie pflogen in den Tagen ihres Ruhms, schien wie ein heiliges Vermächtnis auf die Enkel hin zu erben. Steinen, der Geburtsort Stauffachers, Bürglen, die Heimath Tells, blieben in treuer Verbrüderung, und sie ward mit kirchlichem Pomp begangen. Jährlich wallfahrteten die von Steinen einmahl gen Bürglen in Uri, und die von Bürglen nach Steinen. *)

*) Eine Urkunde zu Uri vom J. 1387 weiset aus, es solle die österreichische Tyranney zu diesen Fahrten Anlaß gegeben haben.

Alles was dem Bewohner der freien Waldstätte groß und ehrwürdig war aus den Tagen seiner Vorwelt, hatte sich auf diese Weise mit der Kirche verbunden. Seine politischen Feste wurden religiös gefeiert. Zu den Schlachtfeldern des Alterthums geschahen fromme Betfahrten; die Monumente seiner Helden waren Meßaltäre; keine wichtige öffentliche Handlung des Volks wurde endlich ohne kirchliche Feierlichkeit begonnen.

So vom Zauber der Sinnlichkeit befangen, waren in der Vorstellung des freien Aelplers Kirche und Staat, Religion und Vaterland wieder unzertrennlich worden. Bei seiner, ihm von Kindheit an eingeflößten Ehrfurcht für die Thaten der Vorwelt, bei seiner schwärmerischen Liebe für die freie im Alterthum durch seiner Ahnen Muth gegründete Landesverfassung, entglühte gleiche Lieb und Ehrfurcht in ihm gegen die Kirche, durch welche zuerst er jene hohen Gefühle einsog. Er konnte nicht mehr für das Vaterland kämpfen, ohne auch für Religion; nicht mehr für diese, ohne auch für jenes. Eines war ihm theuer und und heilig durch das andre. Die Aenderung seiner Staatsverfassung war ihm Zerstörung seiner Religion.

## 9.

Der düstre Ernst des katholischen Glaubens, welcher auf den Geist andrer Völker einen trüben Einfluß haben soll, änderte den hellen Sinn des freien Schwyzers nicht. Zur Freude geneigt, waren ihm die kirchlichen Feierlichkeiten meistens nur Anlässe zu frohen Stunden. Heitre Gastmähler hielten sie dann am ersten; zu den Kreuz- und Betfahrten sammelten sich die liebenden Jünglinge und Mädchen am liebsten, und manche reitzende Bekanntschaft ward dort für die Zukunft angesponnen, wo aller Sinn nur dem Himmel geweiht seyn sollte.

Keine Lustbarkeit war ihnen vollkommen, ohne Tanz; die Musik erhellt mitten im Leiden ihr beklemmtes Herz. Ihre Tänze sind rasche Flüge, nicht ohne Anmuth und Eigenheit. Besonders zeichnen sich die Bewohner des rauhen Muttathales in lezteren aus. Ihr Tanz und die sie begleitende Musik ist oft eigne Erfindung; seltner von Nachbaren entlehnt. Erst seit dem Ende des vorigen Jahrhunderts gelang es dem Ernst der Geistlichen

und Landsgemeinden, daß an Sonn- und hohen Festtägen nicht mehr getanzt werden dürfte.

Ueberhaupt scheinen die Geistlichen seit dem XVI. Jahrhundert mehr denn ehmahls durch Beichtstuhl, Kanzel und Landsgemeinde auf die Versittlichung der Gebirgsbewohner hingearbeitet zu haben. Dies beweisen verschiedne aus jenen Tagen stammende Gesetze. So muß Spielsucht, mehr denn jezt, der Schwyzer Leidenschaft gewesen seyn. Eine alte Verordnung (1518) erlaubte keinen höhern Preiß, als 5 Pf. Pfenninge oder Nidlen; eine andre verbot das Spiel sogar an den Freitägen, Samstägen des ganzen Jahrs, an allen Vigilien-Marien- und Apostelfesten u. s. w. bei 18 Plappert Buß. — Das Schwören bei Gott und den heil. Sacramenten war eben so strenge versagt. Es war obrigkeitlich geboten, (10 Jan. 1705) daß wer es frecherweise gethan, alsobald den Boden küssen, oder vor Gericht erscheinen mußte.

Freilich wurden dergleichen Gesetze nicht immer mit Pünktlichkeit beobachtet; mehr diejenigen geehrt, welche dem Volke grössere Freiheit gewährten, oder die alte schirmten. Es war der Stolz

jedes Schwyzers, ein freier Landsmann (Staatsbürger) zu seyn; dies war kein todter Name, sondern eine Würde, mit mancherlei Vorzügen und Vortheilen verknüpft, ungerechnet den freien Genus an allen Gemeindsgütern und Staatsämtern.

Wenn ein Landsmann von seinen Feinden an Leib und Gut angegriffen wurde, war jedermann bei seinem vaterländischen Eide gehalten, den Befährdeten zu retten. Wer es nicht that, war meineidig erklärt, verpflichtet allen Schaden zu ersetzen, und, im Fall des Ungehorsams, das Land zu verlassen.

Der im Gebiet der Republik sich niederlassende Fremdling blieb ewiger Fremdling, erlangte nie den Genus der grossen Staatsbürger- und Gemeindsrechte, ohne Gutheissen des Volks. Eifersüchtig auf den Einflus der Ausländer, durfte denselben kein liegendes Gut verkauft oder in Lehen gegeben werden. Selbst eine Frau, welche Landsmännin war, durfte keinen Beisassen oder Fremden heurathen, oder sie verlor, so lange der Mann

lebte, ihr Landrecht und Theil an dem Nutzen der Gemeingüter. Eine Fremde hingegen gewann durch Ehlichung eines Bürgers das Bürgerrecht und behielt solches auch nach des Gatten Absterben bei. Doch durfte kein Landsmann eine Fremde freyen, welche nicht dreihundert Gulden eignen Guts besaß, widrigenfalls verlor der Landsmann (laut Verordnung v. J. 1675) Landrecht und Vaterland.

Fremde, welche sich auf dem Boden der Republik niederlassen durften, empfingen den Namen der Beisassen. So eingeschränkt auch die Rechte derselben im Verhältnis zu denen der Staatsbürger waren, lief doch zuletzt ihre Anzahl über 3000 Seelen. Jede Gemeinde bestimmte ihren Beisassen besonders die Bedingungen, unter welchen sie bei ihr wohnen durften. Die Landsgemeinden verfügten ausserdem noch im Allgemeinen über sie. So durfte ohne hinlängliche Bürgschaft schon seit dem Jahr 1638 sich kein Beisaß mehr ansiedeln; und im J. 1668 ward sogar beschlossen, gar keine Beisasse mehr anzunehmen, mit angehängter Clausel: „Wer dawider rathet, soll den Rath gastiren.“

Wenn sich ein Beisaß verheurathete, mußte er acht Tage vor der Hochzeit seiner Obrigkeit 300 fl. Bürgschaft, dem „Landskaslen“ 10 fl. und dem Arsenal eine gute Flinte nebst Seitengewehr geben.

Er durfte nicht mehr als um 1000 Pfund Güter kaufen, und mußte binnen Jahresfrist die etwanige Schuld darauf abbezahlen, widrigenfalls das Gut der Obrigkeit zufiel. — Alles Jagen war ihm (seit 1676) verboten; dies stand nur dem Landsmann zu. Er konnte nur mit der Angel fischen, durfte kein Geißvieh halten, und selbst die Zahl des Viehes, so ihm gegen Bezahlung auf die Allmeinden zu treiben erlaubt war, konnte er nicht über vier Hauptrinder erhöhen (seit 1514); ein Roß für zwei Rinder, oder vier Schafe für ein Rind gerechnet.

Sobald er das sechszehnte Jahr überlebt hatte, mußte er am ersten Sonntag nach Martini zum Vaterlande schwören (seit 1661). War er alsdann ausser Lands haushäblich, so mußte er sein Beisassenrecht alle zehn Jahre erneuern.

Diese Verfügungen sämmtlich hatten kein andres Ziel, als den Bürger in steter Unabhängigkeit

vom Fremdling zu erhalten, so daß dieser nie eine Parthei für sich durch seinen Reichthum gewinnen, oder wohl gar auf die Landsgemeinden einwirken konnte.

So wie gegen den Einfluß des Privatmanns, war es die Republik noch mehr gegen den der Fürsten. Aller Ehren entsezt, und an Leib und Gut ward (gemäß dem Gesez von 1587) derjenige bestraft, der es wagte, mit Geld- und Gut-Ausbieten eine Fürstensache im Lande zu betreiben, oder Stimmen in den Gemeinden zu erwerben. Auch durfte von keinem Schwyzer fremder Herren und Fürsten Namen (laut Gesez v. 1516) ausgeschrien, „noch deren Livrei, offne Zeichen in Kleidern, u. s. f.“ getragen, oder „deren Wappen in den Häusern, an den Wänden, über Thüren, u. s. w. öffentlich angehenkt werden, bei 5 Pf. Buß jedesmahl.“

Wirklich scheiterten auch die Versuche der Fürsten und Ausländer, mehr als einmahl, an dem Unabhängigkeitsgefühl der Schwyzer. Diese, treu ihren selbstgeschaffnen Gesetzen, achteten besonders in neuern Zeiten der Umtriebe mächtiger Fremdlinge immer weniger.

Ihre Gesetze bestanden nur in schriftlichen Sammlungen, der Zeitfolge nach geordnet, unter dem Namen Landrecht. Dies Landrecht ward alljährlich vom gesammten Volke mit einem Schwur bestätigt. — Gewohnheit und das natürliche Gefühl des Rechten und Billigen leiteten den Hirten in seinen öffentlichen Handlungen. Der Sitten Einfalt und Güte machte des Gesezgebers Fleis entbehrlich.

Die meisten Verordnungen der Landesgemeinden bezielten die Sicherung der Rechte jedes Landsmanns und die Bestimmung ökonomischer Angelegenheiten. Schwere Verbrechen wurden überhaupt nach der carolinischen Halsgerichtsordnung, und mehrentheils mit äusserster Strenge behandelt. Ein Gesez von 1416 verordnete, daß, wer von zwölf ehrlichen Männern überzeuget werde, über vier Pfennig Geld oder Geldeswerth gestohlen zu haben, „gehenkt oder sonst vom Leibe gethan werden solle.“ — Ein Gesez vom J. 1537 verbot nicht gradehin den Zweikampf, erklärte aber den, welcher den andern im Duell beschädigte, „zweifacher Buß schuldig“, und, „wenn einer den andern verwundete, daß er stürbe, solle er ihn ermordet haben.“

Es war geboten, daß wenn jemand von dem, mit welchem er in Feindschaft lebte, Vergleich oder Frieden foderte, derselbe gewährt werden mußte. Nachdem er gegeben, soll, lautet ein altes Gesez vom J. 1450: „Wer den andern schilt Mörder — Ketzer — Meineidiger — Dieb — Böswicht — Schelm — du lügst — du hast deine Mutter mißbraucht — für jedes solches Wort 3 Pf. Buß erlegen, oder aus dem Land gehen". In gleicher Strafe war der, so einem andern nachschalt: „Du hast ein unvernünftig Thier angegangen!"

Eine ungewöhnliche Achtung ward durchs Gesez besonders den Kranken und Todten bezeugt. — Wenn ein Kranker auf dem Siechbette mit den Sacramenten versehn war, durften keine Schulden an ihm eingezogen werden, bis er genesen, oder gestorben war. (Verord. 1662). Wer an dem Verstorbnen eine Schuld foderte, mußte sein Recht darauf mit dem Eide bekräftigen; wenn aber des Todten Erbe beschwor, daß der Erblasser bei Lebzeiten das angesprochne Gut als sein Eigenthum erkannt, behielt er's. Wenn die Erben durch zwei Zeugen bestätigen konnten, daß der Ver-

storbne vor seinem Ende eine Schuld abgeläugnet, waren die Erben der Schuld ledig, oder es wäre dann gewesen, daß der Kläger sein Recht durch Aussage von sieben Zeugen beweisen konnte. — Den Todten durfte keine Zehrung nachgefodert werden. (B. J. 1679).

---

## 10.

Das Hirtenleben war von jeher der Schwyzer eigenthümlichstes. Die fruchtbaren Alpen, und die kräuterreichen Matten ihrer Thäler luden sie zu demselben ein. Und eben diese Hirtenschaft war es, welche ihnen vorzüglich jenen unzähmbaren Sinn für Freiheit, jene eherne Festigkeit des einmahl gefaßten Entschlusses, jene kraftvolle Einfalt der Sitte und Handlungsweise gab, wodurch sie sich von ihrer ersten Erscheinung in der Weltgeschichte bis zur lezten Stunde ihres politischen Seyns auszeichneten. Denn Einsamkeit mehr, als alles, gewöhnt an Unabhängigkeit, und giebt dem Gemüthe mit der Rauhheit Stärke.

Die Viehzucht war mithin der vorzüglichste Erwerbszweig des Landmanns. Ohne Nachtheil

des Viehstandes wurden bisher alljährlich aus den schwyzerischen Thälern sechs bis achttausend Kühe nach Italien, Frankreich und Deutschland hin verkauft, jede Kuh in einem Preise von acht bis eilf Louisd'ors, ungerechnet den Gewinn an Butter und Käsen, so während des Jahrs verfertigt wurden. Aber mit derselben Sorgfalt, wie das alte Rom den Ackerbau begünstigte, ward hier die Viehzucht von Seiten des Staats unterstüzt. Wie dort es für ein Verbrechen gehalten ward, seine Felder und Weinberge nachlässig anzubauen, war hier Verwahrlosung des Viehstandes eine öffentliche Schande. Die Sennereien in den Alpen gehören hier deswegen noch immer zu den sehenswürdigsten der Schweiz; der Hirten rastloser Fleis, ihre Aufmerksamkeit und Kunst in der einfachen Wirthschaft, ist bewundernswürdig.

Die Geldsummen, welche jährlich für die Ausfuhr von Rindern und den Produkten der Viehzucht (Häute, Käse, Butter) in das Land zurükfloßen, verbreiteten und unterhielten einen allgemeinen Wohlstand. Damit verknüpfte sich der Gewinn von den hier angelegten, vorzüglichen Stutereien; minder beträchtlich war der von der Ziegen- und Schaafzucht.

Der ausgezeichnete Eifer, mit welchem man seit Jahrhunderten der Viehzucht oblag, verdrängte den Ackerbau fast gänzlich. Er ist noch izt überall in seiner rohen Kindheit. Inzwischen der Landmann seiner Wiesen mit ungemeiner Sorgfalt wartet, vergißt er fast jede andre Kultur seines Bodens. Er wagt es nicht, die Fußstapfen seiner Väter zu verlassen. Was er von seinem Lande dem Ackerbau aufopfert, glaubt er auf keine Weise durch Anbau der Futterkräuter ersetzen zu mögen. Das nördliche Helvetien und Schwaben liefern ihm sein Getraide; er begnügt sich, seine Gartenfelder mit Hanf, Bohnen, Erdäpfeln, Kohl und Wurzelgewächsen zu bestellen, und Obstbäume zu ziehen. Die leztern überdecken alle Felder, und bilden aus den weitläuftigen Thälern anmuthige Gärten. Die Gesezgebung unterlies nicht, den Obstbau von jeher zu unterstützen. Das Landrecht (J. 1664) erlaubte jedem Landmann, auf der Allmeind sechs Bäume zu pflanzen für sich und seine Kinder, nach deren Absterben die Bäume wieder Allmeind wurden; und schon im J. 1440 ward zur Bestrafung der Obstdiebe ein besonderes Gesez, der „Obstbrief" gegeben. — Die Kirschbäume gedeihen in den Thälern von Schwyz vorzüglich;

selbst in den rauhen Gegenden und an den Felsenhalden wuchern sie wild hin. Theils gedörrt, theils zum Brennen des feurigen Kirschwassers wird ihr Obst dem Landmann lieb. Doch erklärte ein Gesez (vom J. 1530) die Kirschen für ein freies und gemeines Obst, das jedermann, reich und arm, pflücken darf. Wer aber seinen Baum für sich schonen will, soll ihn mit einem Dorn bezeichnen „und wer ab einem gezeichneten Baum krieselete“ (kirschete oder Kirschen pflücken würde) „den mag man dieben“ (als Dieb behandeln) „als wann er gestohlen hätte, und soll er zu 5 Pf. Buß verfallen seyn.“

Mehr die dann und wann in Helvetien herrschend gewesene Theurung, als Aufmunterung von Seiten des Landes, beförderte den Gartenbau. Obgleich eine Verordnung (v. J. 1502) sprach: „Wer neu Erdreich aufthut, dem soll in Ziemlichkeit der erste Saamen gegeben werden“, fruchtete sie im Ganzen doch wenig. Gewohnheit, Bequemlichkeit und Vorurtheile herrschten, bis Noth sie besiegte. Neuere Erfahrungen beweisen, daß Korn und selbst Wein mit Vortheil gebaut werden könnten.

11.

Aber auch des hirtlichen Lebens Einfalt macht hier die Kultur des Bodens entbehrlicher, als in andern Ländern. Der Hausvater lebt mit seiner Familie von sparsamer Kost, wie sein Garten und seine Heerde sie ihm liefern. Fleisch und Brod erscheinen selten auf seinem Tische, und fast nie bei den Hirten auf den Alpen, und in den rauhern Gebirgswinkeln. Häuslich und enthaltsam, reicht sein ererbtes Gut hin, den Landmann zu nähren. Selbstgezogner Hanf und die Wolle von seinen Schaafen werden von ihm selbst versponnen und zu Gewändern verwebt. Die Künste des Luxus reitzen ihn wenig; er überläßt sie dem Reichen ohne Neid, und ist stolz, von ihnen unabhängig in selbstgebauter Hütte zu wohnen. So nach der Weise seiner Väter, lebte der Schwyzer bis zu unsern Zeiten, gleich dem alten Römer, schlecht und sparsam, entfernt von Pracht und Weichlichkeit, stolz und frei. — Verhältnismäßig grösserer Aufwand und mannigfaltigerer Genuß herrschte freilich in den volkreichern Flecken und Ortschaften des Landes; aber auch dieser, mehr durch Sitte, als Gesetze, beschränkt, artete nie in verschwenderische Ueppigkeit aus.

Die reichern Geschlechter, eifersüchtig auf des Volkes Gunst, stellten sich in Tracht und Leben demselben gleich. Ihre Kleider waren von feinerem Stoff, ohne der Mode Wandelbarkeit. Die begüterte Matrone und das Weib des Hüttenbewohners trugen bis in unsern Tagen gleichen Kopfputz und Kleiderschnitt.

Mehr wissenschaftliche Ausbildung wurde in den Familien der Reichen gefunden, als beim Mittelstande; denn der öffentliche Unterricht der Jugend war überall versäumt, und nur von schlechtbesoldeten Dorfschulmeistern und den Ortspfarrern besorgt. Eine lateinische Schule im Hauptflecken Schwyz leistete den höhern Bedürfnissen kein Genüge. Man besoldete also besondere Hauslehrer, oder sandte die Jünglinge in ausländische Schulen. Theils in diesen, theils durch Reisen und Kriegsdienste gebildet, kehrte er sodann, mit Kenntnissen bereichert, zur stets geliebten Heimath zurük, und ward der Vorsteher seines Volks.

Ein aufgewekter, feuriger Geist, natürlicher Wiz, und grade Beurtheilungskraft zeichnen inzwischen den Schwyzer vor seinen Nachbarschaften aus. Die Natur ersezt ihm durch ihre Huld den

Mangel der Kunst. Die freie Landesverfassung, die Theilnahme jedes Bürgers an den öffentlichen Angelegenheiten bilden den Verstand und geben ihm eine Stärke, welche der Fremdling oft bewundert, der im Hirtenkittel nicht den Staatsmann suchte. — Inzwischen war doch die allgemeine Unwissenheit des Landmanns sichtbar. Das grausame Interesse der Herrschlustigen schien sie zu begünstigen.

Daher sah man, wie in den frühesten Zeiten, noch gegenwärtig unter den Bewohnern der Waldstätte einen dreifachen Stand, und einen dreifachen Grad geistiger Ausbildung — Landvolk, Geistlichkeit und Adelschaft. Obwohl unter den Schwyzern kein erbliches Vorrecht galt, und jeglicher zu der Landesverwaltung seine Stimme gab, war dennoch dem Beobachter dieser Standesunterschied unverborgen. Die Armuth ist des Reichthums Magd, und die Unwissenheit ist der Einsicht Sklavin.

Daher genos das Volk, obgleich einer ungebundnen Freiheit theilhaftig, dennoch derselben Wohlthaten nicht alle. Es blieb, wie es im vierzehnten Jahrhundert erschienen war, am Unter-

gang des achtzehnten, arm, ungebildet, kindlich. Nicht eigentlich des heimathlichen Felsenbodens Kargheit, nicht der Thalgelände Wildheit entfruchteten die Freiheit, so ihm drei Helden einst auf Grütli stifteten; sondern des Aberglaubens Gift, der Vorurtheile Macht, der Gewohnheit strenges Band war es, was den Segen der Freiheit tödtete, und dieser Sonne wohl winterlichen Schein, doch keine Wärme ließ.

Der Hirt, von Kindheit auf zur Wirthschaft nach alter Uebung angeleitet, abgelenkt vom Erlernen des Bessern, unkundig höherer Bedürfnisse, zufrieden seines Lebens Nothdurft zu stillen, berechnete das Erdenglük nach der Zahl müssiger Stunden, und die Weisheit nach der Menge wunderlicher Vorurtheile.

Seine kleine irrdische Habe zu erhalten, und des Kirchenglaubens treulich zu pflegen, war der Inhalt seiner Tagewerke und der Kern seiner Lebensweisheit. Vertrauensvoll auf der Väter Einsicht, entfernte er sich nie aus deren Kreisen und Gränzen. Daher ward jede Neuerung von ihm geachtet gleich einer Sünde gegen die ehrwürdigen

Schatten

Schatten der Vorwelt; er sah dabei entweder seinen Wohlstand, oder seine Religion gefährdet.

Selten verließ er in neuern Zeiten die heimathlichen Thäler. Das Ideal zu allem Grossen lag für ihn im Leben und Thun seiner Altvordern. Ihre Thaten beschäftigten sein Gedächtniß. Europa hat kein Land, worin die Geschichten der vaterländischen Vorzeit so unvergessen und neu geblieben, so jedem Kinde bekannt war, als in jenen Gebirgen. Seit den Thaten Tells und dem Kampfe von Morgarten schienen nur so viele Jahre verflossen zu seyn, als es Jahrhunderte waren. Noch immer stolz auf diese Begebenheiten, angesonnt vom Thatenglanz der Ahnen, glaubten die Hirten ihre Engpässe und ihren Arm unüberwindlich.

Obwohl jeder Bürger in den Landsgemeinden über das Heil des Vaterlandes Hand und Stimme erhob, war doch bei jener Armuth an Erfahrungen und Begriffen nur allzunatürlich, daß die grosse Menge der Lenkung seiner Geistlichen, oder der „Herren“ folgte. Herren hiessen die Män-

ker aus reichen Geschlechtern, welche nicht unmittelbar selbst, gleich den „Bauern", Viehzucht oder Handwerk trieben; Eine Namens-Unterscheidung, welche von den freien Schwyzern selbst gegeben ward.

In den Händen der Herrn lag die Regierung des Landes. Der Souverain, oder das Volk, war ihnen furchtbar nur durch seine Schwachheit. Leichtgläubig, selbstsüchtig, und undankbar, wie überall in den Demokratien, hieng es bald diesem, bald jenem an. — Die Mächtigen des Volkes waren dessen Schmeichler; Schmeichelei aber betäubt und verdirbt eben so leicht ein ganzes Volk, wie einen Fürsten.

Oft erhoben die Patrioten des schwyzerischen Freistaats ihre Stimme gegen dies dem öffentlichen Wesen nachtheilige Uebel. Doch mit vergeblichem Eifer. Sie weissagten aus dem eingeschlichenen Verderben, den Umtrieben der Partheien, der Nichtbeobachtung ehrwürdiger Gesetze, der alten Freiheit Untergang, aber wurden nicht gehört. — In den Landsgemeinden selbst, welche des Staates Wohl bewachen sollten, wurden die

weiseſten Ordnungen der Vorwelt vernichtet. Eine deren war es, welche (ſ. d. J. 1551) mit Strenge „alles Partheyen um Vogtei, Ritt, oder Ehrenamt“ verbot und den, der deſſen ſchuldig, von allen Ehren entſetzte, und zu keinen mehr gelangen lies, ja ſogar denjenigen gleichfalls ſeiner Ehren verluſtig erklärte, welcher für einen Frevler jener Art auch nur Bitte einlegen würde. — Demungeachtet erröthete man nicht in offner Landsgemeinde, die Landvogteien und andre obrigkeitliche Stellen in den Unterthanen-Landen verſteigerungsweiſe dem Meiſtbietenden zu ertheilen. — So ſehr war das Gefühl der Ehre und des Rechts erloſchen, daß ein freies Volk, nicht zufrieden, Unterthanen zu haben, kein Bedenken trug, demſelben nicht einmahl den Würdigſten zum Regenten zu nennen. Wer aber ſein Amt auf ſolche Weiſe erkauft hatte, ſcharrte durch mancherlei Ungerechtigkeit und Druck bei den Unterthanen nicht nur ſein ausgelegtes Kaufgeld, ſondern auch deſſen Zinſen wuchernd zuſammen. — Lange verdunkelte dieſe Fürſten-Sünde des biedern Volkes Ruhm. Die Freunde der Ariſtokratie in der Eidsgenoſſenſchaft bewieſen aus ihr der Volksherrſchaft Gebrechen.

Nicht nur wurden die Landvogteien um hohe Summen, welche das Volk unter sich theilte, verkauft, sondern selbst der Landes-Amman und dessen Statthalter konnten nur durch beträchtliche Geschenke, welche endlich in wirkliche, gesezliche Auflagen verwandelt wurden, zu ihren Ehrenstellen gelangen. Wenn der Landvogt für sein gewinnreiches Amt mehrere tausend Gulden entrichtete, zahlte der Rathsherr das seinige mit acht und neun hundert Gulden, ohne dagegen bedeutender Einnahmen zu geniessen. Er empfieng jährlich einen Kronenthaler und einen Kalender. — Der Landes-Amman genos ausserdem noch der Siegeltaxe für sich, mußte aber, wann er gewählt wurde, jedem Landmann 10 Schilling, (der Statthalter nur 5 Schilling,) Schienhuts-Geld zahlen, weil sich der Ländler gewöhnlich zum Maienmarkt seinen neuen Strohhut kaufte. Früh schon herrschte dieser Misbrauch; früh schon ward von den Patrioten ihm entgegengeeifert. Aber das oberherrliche Volk wollte dieser Einnahme nicht entbehren, und verordnete deswegen sogar im Jahre 1680 ausdrüklich: „wer künftig darwider redt soll 100 Kronen Buß bezahlen und des Landrechts beraubt seyn.“

Indem auf diese Weise die Selbstsucht des Volks den Weg zum Bessern verrammelte, blieb den Regierern in allem andern freier Spielraum. Es war mithin die schrankenlose Freiheit der Gebirgsvölker nicht immer ihres Namens würdig. Unterthanen in Fürstenlanden zogen oft mehr Gewinn aus dem dürftigen Schein ihrer Lampe, als diese Völkerschaften von ihrer ganzen Sonne.

Die Geistlichen, obwohl in natürlicher Abhängigkeit von den reichen Geschlechtern der Berggelände, behaupteten dennoch auf solche einen überwiegenden Einfluß, vermittelst ihres Ansehns im Volk.

Dies Ansehn mit leichter Mühe zu schirmen, liessen sie den Ländler in Unwissenheit verwildern. Sie liessen die Schulen vernachlässigt, aber lagen desto sorgsamer dem Dienst des Kirchenthumes ob. Ihre Gewalt war der andern Schwäche. Es gebrach unter ihnen nicht an edeln kraftvollen Männern mit erhabenen Wünschen, — aber sie mußten noch schweigen.

Frankreichs Wiedergeburt, die Erklärung

der Menschenrechte und der Geistesfreiheit war den Priestern der Gebirge, was sie war den Priestern der Ebne. Das Schikſal der Kirche in jenem neugeschaffnen Freistaat füllte der Geistlichen Brust mit unsterblichem Zorn. Das Volk hörte von ihnen nur die Verbrechen der Franken, und gewöhnte sich zum Abscheu gegen die einst bundsverwandte Nation.

Die reichen Geschlechter des Landes, von welchen viele alten, meist im Ausland erworbenen Adel, werthlos in der Heimath, trugen, hatten mit der Priesterschaft gleiches Intresse. Einer bessern Erziehung theilhaftig wurden sie nothwendig durch Grösse und Mannigfaltigkeit ihrer Kenntnisse, des Volkes Führer und Vorsteher. Es ist des Landes Ruhm, die Weisesten auf dem Stuhl der Regierung zu sehn; aber keines Preises würdig, wenn Erfahrung und Einsicht nur gewissen Familien, gleich erblichem Gut, gehören. Waren gleich die schwyzerischen Staatswürden den Kassen unergiebig, so belohnten sie doch den Inhaber

durch den Glanz der Hoheit und durch die Achtung der Fremden.

Aber die Vernichtung des fränkischen Königthumes und des Adels und der Titel und grauen Vorrechte gewann der Revolution des Nachbar-Reiches keine Freunde in den regierenden Familien der Gebirge. Denn sie sahen ihren Glanz in jenem weitläuftigen Reiche erlöschen. Je weiter die Grundsätze der unverjährbaren Rechte verbreitet wurden, je höher schwoll ihr Unmuth.

Bonapartes Sieges-Lauf in Welschland, die Befreiung des Valtelins, und der Grafschaften Worms und Cleven, (Bormio und Chiavenna,) so dem Bündner-Volk einst unterthänig waren, regten gerechte Furcht auf, früher oder später auch ihre Unterthanenschaften an den Gränzen Italiens und Deutschlands einbüssen zu können.

Dies war der sittliche Zustand der Völkerschaften in den Gebirgsthälern der Waldstätte. Von

diesem Bilde des Volks, der Geistlichkeit und des Adels erhoben sich zwar der preiswürdigen Ausnahmen einzelne; aber einzeln waren die Ausnahmen und gewaltlos.

# Zweytes Buch.

# Zweytes Buch.

## 1.

Unbekümmert um den weltzerstöhrenden Streit der Völker und Fürsten lebten die Hirtenfamilien der helvetischen Alpen im hundertjährigen Frieden. Ungedrükt von fremdem Joch, unbeengt von ausländischen Gesetzen, büßten sie, wann sie litten, nur eigne Fehler. Roh waren sie und bildungslos, aber von Gewohnheit und alter Sitte geleitet, in der Bahn des Rechten, und die Abwesenheit grosser Leidenschaften lies ungestöhrt die hehre Stille, von welcher öffentliche Tugend begleitet zu seyn pflegt. Einsam, ruhmlos, unbeneidet lebten sie, aber eben darum, zufrieden mit dem Erbe der Vorwelt, glüklich. Neben ihren Hochgebirgen zogen die traurigen Weltstürme vorüber; Staaten zertrümmerten und entsprangen; eine allgemeine Wiedergeburt der Dinge verwandelte

die Hälfte Europens — sie aber wußten es kaum und ahneten nicht, daß ihre stillen Thäler bald von den Wirbeln der politischen Windsbraut ergriffen werden würden. Früher, als die einsamen Bergvölkerchen selbst, bebten theilnehmend um ihr Loos entfernte Nationen.

Das fränkische Volk hatte schon seit einigen Jahren den königlichen Thron seines Landes zerschlagen, mit ungeheuren Triumpfen die Welt erschüttert, und der Könige Verschwörung zernichtet. Siegend stand es, aber einsam in Europa, und umringt von erschöpften, doch unversöhnten Fürsten.

Die Führer der neuen grossen Republik erkannten die gefahrvolle Einsamkeit ihres Vaterlandes. Form und Stoff des jungen Freistaates, allzuverschieden von den andern Staaten, liessen kein dauerhaftes Bündnis zwischen ihm und diesen erwarten.

Nicht Gleichheit des Reichthums, noch der Macht, noch des Namens, sondern nur Gleichheit der Meinung und der Grundsäzze und des Ziels verbindet aufrichtig und fest, wie Menschen

mit Menschen, Staaten mit Staaten. Frankreich sehnte sich nach Frucht von seinen Siegen— eigner, währenden Sicherheit — und beschloß Staaten gleicher Natur um sich zu schaffen.

Darum begünstigte mit gewaltigem Arm Frankreich die Revolution der Nachbarländer, und gab daselbst der Regierung Ruder solchen Händen, welche längst, wiewohl mit unterliegenden Kräften, gegen die Feinde der Menschenrechte gestritten hatten. Also entstanden die Republiken Batavia, Cisalpinien, Ligurien und Rom.

Völker zu Völkern wohnen im rohen Naturstand; unter ihnen gilt kein Recht, sondern die Gewalt und das Kommliche. Auf Erden wird kein Völkerrecht herrschen, so lange jeder Welttheil nicht sein Staatentribunal trägt, vor dem sich Nationen richten lassen, wie in den Träumen der Dichter.

Es ist freilich schmerzhaft, wenn unterm Druck übermächtiger Nothwendigkeit das Recht erliegt; doch es ist der Dinge Loos, und den Weisen tröstet es, aus zermalmten Formen des Alten besserer Schikfale Keim hervortreiben zu sehn.

Die schweizerische Eidsgenossenschaft, unzusammenhängend in ihren Theilen, längst zur vollen Auflösung reif, sah ihr Ende herbeinahn. Mannigfache Gährungen im Innern, der unterthänigen Landschaften Schrei um Freiheit, davon sie nur den Namen trugen ohne das Glük, der Regenten Verblendung und unkluges Dagegenstreben, der Kantonen gegenseitige Eifersucht — alles traf zerstöhrend zusammen. Frankreich sah mit Vergnügen der Eidsgenossenschaft innern Verfall; es zögerte nicht, davon zu gewinnen; unterhielt die Zwiste und Kämpfe mit mancherlei Hoffnungen, Winken und Vorspieglungen; fädelte Hader an mit einzelnen Kantonen, um durch diesen die Schweiz zu scheiden, ihr Ganzes umzugestalten und dann Helvetien der neuen Staaten-Ordnung einzuverleiben, welche Europen trennet.

Schon rangen in geheimer Fehde Bern und Zürich und Basel mit Frankreichs halbverschleierten Absichten, als noch immer die Hirtenvölker in den helvetischen Berg- und Waldkantonen sorglos im einfachen Geleis ihrer alten Uebungen und Gewohnheiten fortlebten. Sie wähnten in der Schonung fremden Friedens den eigenen zu behüten.

Aber in den Dezember-Tagen des Jahres 1797 fühlten sie das erste Vorsäuseln des heranrükkenden Sturmes, unter welchem nun nach sieben schiksalsvollen Monden auch ihrer Landesverfassung vierhundertjährige Formen zusammenbrechen mußten. Zürich, der Vorort löblicher Eidsgenossenschaft, war es, welcher sie damahls zu einer Unterredung einlud „nöthig gemacht durch die Zeitumstände, — damit dem drohenden Uebel durch gemeinsamen Rath noch möge gesteuert werden.“ *)

Bald darauf verkündete Bern, daß „die fränkischen Truppen wirklich Erguel und die bischöflich-baselschen Lande in Besitz genommen und den Kanton Bern der Gefahr eines Ueberfalls ausgesezt haben;“ **) es foderte also

*) Schreiben von Zürich, den 7. Dezember 1797.

**) Das Bisthum Basel wurde in das sogenannte Reichsland, und in den Schweizerboden eingetheilt. Das Reichsland gehörte zum oberrheinischen Kreise, und nur das Münsterthal war durch das mit Bern im Jahr 1486 geschlossene und endlich noch in diesem Jahrhundert, 1743 erneuerte Bürgerrecht, (nach welchem Bern Schuz, Münsterthal jenem aber Beistand in Kriegszeit gelobte,)

von Schwyz „einen Standesrepräsentanten, als Bundesrath, gen Bern zu ordnen und, nebst getreuen Aufsehen, thätige Hülfe bereit zu halten.“ *)

Die Regierung von Schwyz, genannt der Landesrath, vernahm nicht ohne Sorgen die Botschaften von Zürich und Bern. **) Er wagte es

der Schweiz verwandt. Schon im Jahr 1792 besetzten es die Franken. Hingegen der bischof-baselsche Schweizerboden, (wozu das Erguel oder St. Immerthal, die Herrschaft Illfingen, Neuveville und der Tessenberg, (den der Bischof gemeinschaftlich mit Bern besas,) war durch alte und mannigfaltige Verträge der Eidsgenossenschaft angeschlossen, und in förmlichem Schutz-Bündnis mit derselben.

*) Sendschreiben von Bern, den 14. und 17. Dezember 1797.

**) Der Landrath von Schwyz, an dessen Spitze jedesmahl der regierende Land-Amman, oder sein Statthalter stand, war aus den sogenannten Landeshäuptern (dem Pannerherr, Landshauptmann, Landsfähnrich, Obristwachtmeister, und Zeugherrn) und den sämmtlichen von den Landsvierteln ernannten Rathsgliedern zusammengesezt.

es nicht, eine Angelegenheit von solcher Wichtigkeit selbst zu entscheiden; darum versammelte er das souveraine Volk zu einer ausserordentlichen Landesgemeinde, welche am 21. Dezember zusammentrat.

Das Volk zögerte nicht, dem Begehren der Bundsverwandten mit derjenigen Eil zu entsprechen, welche die Gefahr erheischte. Der Landamman Aloys Weber, und Meinrad Schuler, Alt-Landamman, zwei biederherzige Männer, die das Volk ehrte, wurden ernannt, im Namen Schwyzes zu der von Zürich verlangten eidsgenössischen Unterredung nach Arau zu reisen, und feierlich beauftragt, vereint mit den andern helvetischen Ständen alles zu leisten, „was Ruhe, Sicherheit und allgemeines Wohl gesammter Eidsgenossenschaft befördern und befestigen möchte.“ Würden aber Sachen in Bewegung gebracht werden, welche, woher sie auch immer rühren, Freiheit, Religion und Sicherheit des Vaterlandes und Verfassung oder Integrität der Eidsgenossenschaft betreffen möchten: so solle der schon gefaßte Landsgemeinden-Beschluß eröff-

net werden: „daß wir der von Gott und unsern Vorvätern erhaltenen Religion und den bisherigen Gesezzen, als freie Männer getreu bleiben und viel eher alles wagen und alles aufopfern werden, als etwas zugeben, was unsrer ererbten Freiheit, Verfassung und Religion nachtheilig seyn könnte.“ *)

Damit aber gleiche Gesinnung und wandellose Entschlossenheit auch die andern helvettschen Bundesstaaten beseelen möge, wurde den Gesandten befohlen, sich mit den Abgeordneten der übrigen Stände vertraulich zu berathen, auf welche Weise die „dem Vernehmen nach“ in den aristokratischen Ständen zwischen Volk und Herrschaft gährenden Mishelligkeiten am besten beseitigt werden könnten, auf daß das Volk jeglicher Zeit sich bereit finden lasse, für die Vertheidigung des gemeinsamen Vaterlandes und eigner Erhaltung Alles zu leisten.

Gen Bern aber verordnete das versammelte Volk, als Bundesrath, den Alt-Landam-

*) Landsgemeinde, 21. Dezember.

man Karl Reding, einen Mann, gewandt in Staatsgeschäften und einnehmender Rede, mit dem Auftrag, „durch gütliche Verwendung in allem mitzuwirken, was die Erhaltung und Ruhe des Standes Bern und gesammter Eidsgenossenschaft berühren könnte.“ *)

Also erklärte sich das Volk von Schwyz, als es zuerst von der anschwebenden Gefahr vernahm.

---

## 2.

Bern aber war in grossen Bewegungen. Seit dem Jahre 1536 hatte es über das anmuthige Gelände geherrscht, welches sich, vom Jurassus und Jorat in West und Ost umgürtet, am mitternächtlichen Ufer des Sees Leman, wie ein prachtvoller Garten, ausbreitet, das Waatland geheissen. Dort waltet ein milderer Himmel; unter ihm gedeihen Rosmarinstaude und Feigenbaum im Freien, und die Blumen von Vivis geh'n, ob ihrer Schönheit, durch ganz Europa. Ein lebhaftes, geistvolles Volk baut dort an den

*) Instruktion, 23. Dezember.

Hügeln Wein und allerlei Getraide; aber des Landes Verfassung, die innern Verhältnisse der Städte und Dorfschaften, beschränkten schon lange die allgemeine Wohlhabenheit. Auch war dies Volk vor Altem mit Rechtsamen und Freiheiten ausgestattet, welche allmählig unter Berns Staatskunst verloren gegangen.

Die Waatländer, durch einige ihrer kühnern Mitbürger, und mehr noch von geheimen Verheissungen mächtigen Beistandes von Frankreich aufgemuntert, heischten mit lauter Stimme die uralten Rechte zurük. Berns Weigern machte sie bittrer, Frankreichs Gunst verwegner.

Das auflodernde Feuer zu löschen, wählte die Herrscher-Stadt im Nüchtland den Weg des Ernstes. Einzelne Männer, welche zu trotzig die Sache der Gleichheit und Freiheit gesprochen, wurden den Gefängnissen überliefert. Aber leiden um Meinung ist ehrenvoll; die Schmach haftet am Richter. Der Preis der geliebten Wahrheit steigt mit jedem Opfer, so zu ihrem Altar fällt.

Frankreich, dem des Zwistes Anfädelung willkommen, sprach zum Schuz der Verfolgten.—

Kraft alter Verträge *) maaßte es sich des Mitteramtes an zwischen Waat und Bern, und ließ durch Mengaud, seinen Geschäftsträger bei den Kantonen der Eidsgenossenschaft, das Leben und die Sicherheit der Verhafteten unter Berns Verantwortlichkeit setzen. **) Der Rath dieser Stadt antwortete aber dem gebieterischen Franken: „Einzig unserm Gewissen, unsern Gesetzen, unserer Verfassung und dem Allerhöchsten sind wir Verantwortung ob unsrer Handlungen schuldig.“ ***)

*) Durch den Traktat von St. Julien wurde im Jahr 1530 unter gewissen Umständen den Herrn von Bern und Friburg der Besitz der Waat zugesprochen, so, oder mit denen Rechten, wie sie der Herzog von Savoyen besessen. Im Jahr 1564 entsagte endlich Herzog Emanuel Philibert durch den Traktat von Lausanne allen seinen Rechten auf die Waat, mit Vorbehalt aller Privilegien der Einwohner. Im Jahr 1565 garantirte Frankreich den Traktat von Lausanne, und diese Garantie wurde im Jahr 1777 erneuert. Seit der Besitznahme Savoyens durch Frankreich im Jahr 1796 in alle Verpflichtungen und Rechte der Herzöge von Savoyen.

**) Mengauds Note. Basel, 3. Jenner 1798.

***) Bern, 5. Jenner 1798.

Frankreich, im Gefühl seiner Macht, Bern, im Stolz seines Fürstenrechts, lagen nun bald in offnem Streit. Jenes lies seine Heerhaufen gegen die Gränzen der westlichen Schweiz rükken; dieses zog Vertheidigungsschaaren zusammen, und mahnte die Eidsgenossen zum Wachen. Der Franken Regierung, damahls Direktorium geheissen, der da Gewalt für Recht, Ränke und Golddurst für Staatskunst galten, fragte drohend an: warum und für wen Berns Rüstungen? *) Schultheis und Rath entgegneten: wir wollen nicht Krieg, aber Sicherheit der Gränzen von aussen, Behauptung unsrer landesherrlichen Gewalt von innen. **) Mengaud achtete des Gegenspruches nicht; „ich erkläre euch, schrieb er: daß alle Glieder eurer Regierung persönlich gegen das fränkische Direktorium verantwortlich seyn werden für die besondre Sicherheit und das Eigenthume der Einwohner des Waatlandes, welches ein Gegnstand eurer Nekkereien und des Wohlwollens von Frankreich geworden ist.“ ***)

*) Mengauds Note. Basel, 5. Jenner, nebst Beschluß des fränkischen Vollz. Direktoriums.

**) Bern, 8. Jenner 1798.

***) Basel, 7. Jenner 1798.

Diese empörende Zuschrift, deren Geist nur Krieg heischte, deren Schmach nur mit Blut versühnt werden konnte, entschleierte Frankreichs Ziel. Bern läugnete seine gewaltthätigen Maasnahmen gegen die Waat, und das Dasein solcher Traktaten, die irgend jemand berechtigen sollten, fremde Vermittlung anzurufen. *) Es fuhr in seinen Rüstungen fort, erinnerte die helvetischen Bundsgenossen, ihre Kriegsvölker bereit zu halten auf den ersten Wink, und sandte, um noch jeden Weg der Güte zu benuzzen, zwei der eidsgenössischen Bundesräthe in die Waat, „auf alle mögliche Weise Ruhe und Ordnung daselbst, und wenn auch mittelst wichtiger Opfer wieder herzustellen, wenn leztere nur in gesezlicher Weise gefodert werden würden.“ **)

Wyß von Zürich und Reding von Schwyz empfiengen von Bern die Sendung ins Waatland. Schwyz erlaubte seinem Gesandten die Annahme des wichtigen Mittlergeschäftes, „doch unter vorher-gemachter feierlicher Ecklärung, daß

*) Stand Bern, 10. Jenner.

**) Relation von Karl Reding von Schwyz, 10. Jenner 1798.

weder er noch der Stand Schwyz für einige daraus entspringende Folgen verbindlich seyen.“ *) Auch Freiburg, Solothurn und Wallis gestanden den Abgeordneten diese Vollmacht zu.

Als sie in Lausanne, des Waatlandes Hauptstadt, angekommen waren, entwikkelten sie gleichen Tags dem Volke in einer Verkündung den Zwek ihrer Sendung, und foderten jeglichen des Landes auf, der Klage trug, sie einzubringen, mit Verheissung der wirksamsten Beförderung. **)

Die Bewohner des Hügellandes zwischen dem Jorat und Jurassus, von mancherlei Wünschen, mancherlei Leidenschaften bewegt, haderten unter sich selbst in reger Thätigkeit. Drei Partheien vor allen zeichneten sich in der gährenden Volksmasse aus; jede derselben für eigne Ziele entflammt. — Die grosse Mehrheit des Landes foderte bescheiden von Bern Ausdehnung seiner Rechtsame und Freiheiten; gedachte aber sich nicht von der Herrscher-Stadt zu trennen, noch minder der Franken trügliche Einmischung zu

*) Schwyz, 11. Jenner.

**) Proklamation. Lausanne, 15. Jenner.

benutzen. — Es waren and're, welche den stolzen Entwurf nährten, den günstigen Augenblik zum Heil der Nachkömmlinge festzuhalten, und das Land am Lemaner-See unabhängig zum vierzehnten Kanton der Eidsgenossenschaft umzubilden. — Noch and're trugen im Sinn, die Einführung des demokratischen Systems der Stellvertretung, nach Frankreichs Beispiel, in Helvetien.

Die abgeordneten Bundesräthe, um den Geist der Mehrheit zu fesseln, näherten sich günstig deren Foderung, und traten, da die bernischen Vögte entflohen, und alle gesezliche Gewalten kraftlos und sonder Verbindung waren, mit den Klubbs, oder Volksausschüssen des Landes in Gemeinschaft, durch deren Mittel allein noch auf das Volk gewirkt werden konnte.

Indem sie nun den vorzüglichsten Männern dieser Ausschüsse mässigen Sinn einflösseten, und ihr Vertrauen zu gewinnen begannen, empfiengen sie wirklich von denselben die schriftliche Zusage: „daß die Landschaft der Waat hoffentlich zufrieden gestellt seyn werde, wenn der Landesherr eine Versammlung von (höchstens sechzig) Gliedern

der Ausschüsse begünstige, durch welche die Beschwerden und Wünsche der Waat dem Souverain vorgelegt werden sollten; und daß in diesem Fall die Angesehensten des Landes sich selbst beim fränkischen Direktorium um Entfernung aller Einmischung in die Landesangelegenheiten verwenden würden." *)

Bern aber, von Ungeduld getrieben, vernahm kaum, daß die Waat noch viele Gemeinden zähle, welche der bisherigen Regierung hold und treu waren, beschloß durch diese den Landfrieden zu erzwingen. Ein Machtstreich sollte den Prozeß entscheiden, dessen Verlängerung die Ehre der Regierung gefährden konnte.

Zu gleicher Zeit also, da die Bundesräthe von Lausanne aus Bern den zum gütlichen Vergleich angebahnten Weg mit Nachdruk empfahlen, empfieng der Berner Obrist Weiß Befehl, aus den Anhängern der Regierung ungesäumt ein Heer zu bilden, sich des von den aufständigen Waatländern weggenommenen Schlosses Chillon

*) Redings Relation von Lausanne.

wieder zu bemeistern, und durch Waffen-Ernst die gesezliche Ordnung zurükzuführen. *)

Gegen diese Anstalten, fähig den glimmenden Unwillen zu Flammen allgemeinen Aufruhrs anzublasen, machten die zwei eidsgenössischen Stellvertreter lebhafte Einwendungen, sowohl beim Obrist Weiß, als dem Rath von Bern, mit der hinzugefügten, drohenden Erklärung: „daß unter solchen Maasregeln ihrer Sendung Ziel verschwinde, und die Absicht ihrer hohen Sender ihnen nicht gestatte, mit Eigenschaft eidsgenössischer Repräsentanten länger in der Waat zu bleiben.“

Es stand zu dieser Zeit an der Spitze des Freistaats Bern ein Greis, geistvoll und erfahren, welcher mit eiserner Entschlossenheit, unaustilglichen Haß des neu-fränkischen Staatssystems verband; der von Ahnen-Ruhm begeistert, oft eigne Ehre und des Regimentes Stolz öffentlichem Heil vorzog; lieber blutigen Untergang erfahren, als fremdem Gebot gehorchen wollte. Dieser Greis war Schultheis von Steiger.

*) Anzeige vom Obrist Weiß an die beiden Abgeordnete.

Von ihm geleitet, beharrte der Berner-Rath auf den gewaltsamen Entschluß; der Befehl an Obrist Weiß wurde bestätigt. Die eidsgenössischen Abgeordneten in Lausanne, kaum davon belehrt, verliessen die Waat, kehrten nach Bern zurük, und ermahnten gleichen Tags das Volk nochmahls zur Einvorhaltung gesezlicher Ordnung, *) mehr, um den lezten Theil ihrer Pflicht zu vollziehn, als in der Hoffnung, den losgelassenen Sturm zu bändigen.

Karl Reding, der Schwyzer, trat vor dem Rath von Bern, und redete mit Kraft und Weisheit. Er schilderte die Natur der waatländischen Unruhen; der Bürger einstimmiges Verlangen um Erweiterung der Rechtsame; des Volkes banges Schwanken zwischen Furcht vor dem Zorne Berns und Furcht vor der Fremdlinge Einmischung. —

„Ein Volk, rief er: wenn es sich aufs äusserste getrieben glaubt, ergreift auch das äusserste Mittel. — Es war der feierliche Entschluß meines Kantons, für die Erhaltung unsrer Verfassung

*) Proklama unterm 19. Jenner.

auch den lezten Blutstropfen freudig zu verspritzen. So bestimmt ich euch diese Versicherung wiederholen darf, so unverholen muß ich auch bekennen, daß eure redliche Bundsgenossen von Schwyz nur mit tiefster, innigster Kränkung die traurige, herzerschütternde Nachricht erfahren würden, daß wir Schwyzer erst dann unsre Waffen gegen die auswärtigen Feinde richten könnten, nachdem wir solche zuerst mit dem Blute jener Völker gefärbt hätten, welche die Vorsicht unter die väterliche Obsorge weiser Regenten gestellt hat.“

In gleichem Ton schrieben an Bern auch die Abgesandten der eidsgenössischen Tagsatzung in Arau. *) Allein Berns Loos war schon gezogen. Seine Herrscher, mit stolzem Hochgefühl des Rechts, und dem Wandelsinn beginnender Verzweiflung, verschmähten gegen Vasallen Nachgiebigkeit, die sie entehren, und den frommen Rath der Bundesbrüder, welcher sie retten konnte.

Aber einige Tage darauf gab selbst der Obrist Weiß den Wiederhall von Redings Worten, er,

*) Schreiben. Arau, 19. Jenner.

der vor Kurzem noch ohne Blutvergiessen, nur durch den Glanz der Waffen, die Aufständigen zu betäuben, und in die alte Bahn der Dinge zurükzutreiben gehofft hatte. „Der neue Beschluß des fränkischen Direktoriums," also schrieb Weiß: „hat alle Gemüther umgeändert und die Gährung vergrössert. — — Darf ichs frei bekennen: so seh' ich in allen unsern kriegerischen Anstalten nur Mittel zu einer zerstöhrenden Fehde und unnöthigem Blutvergiessen. — Ich bin überzeugt, daß alle Zwangsarten keine andre Wirkung haben werden, als die ganze Schweiz zur Revolution zu bringen, und den Regierungsgliedern selbst das Schikſal der Emigrirten vorzubereiten. — Nach meinem Dünken ist das Klügste und Tugendhafteste, diese Leute mit Güte und Nachsicht zu behandeln, ihrer Fieberhitze nachzugeben, auf die Versammlung der Deputirten sorgfältig zu achten, und auf solche zu wirken." *)

Diese weissagenden Worte erfüllten die Versammlung des Berner-Raths mit einem geheimen Schauer. Er ahndete dunkel ein furchtbares

*) Weiß Schreiben an Bern, 24. Jenner.

Schikſal. Aber der Kampf, auf Leben und Untergang nun einmahl begonnen, lies ſich nicht löſen, ohne Schimpf des Berniſchen Patriciats.

Warnend erſchien noch einmahl auch Schwyz, und ermahnte die ſtolze Herrſcher-Stadt, Milde vorzuziehn der Strenge; die Einwohner des Waatlands zu befriedigen in ihren Wünſchen; keinen Weg der Güte unverſucht zu laſſen, und dem gemeinſamen Vaterland ein Opfer zu bringen.“ *)

Bern verachtete den Zuruf der Waldſtädte. Schwyz rief ſeinen Abgeordneten zurük, um ſich vor den Folgen jener Hartnäkigkeit zu verwahren, welche verheerend auf die ganze Eidsgenoſſenſchaft zu ſtürzen drohten.

---

3.

In Arau, wo ſeit dem neunten Jenner des Jahres 1798 auch der Geſchäftsträger Mengaud angekommen war, gab die Verſammlung der eidsgenöſſiſchen Geſandten ein lebhaftes Bild

*) Schwyz an Bern, 27. Jenner.

von der Zweitracht, von den widersprechenden Wünschen, von der Zerrüttung, welche zu dieser Zeit Helvetien beherrschten.

Viele erkannten die anziehende Gefahr in ihrer wahren Gestalt und der Eidsgenossenschaft allgemeinen Untergang. Denn die Uneinigkeit und Eifersucht der Kantonen gegen einander, die Mängel des helvetischen Staatenbundes, und die kleinliche Selbstsucht jedes einzelnen Standes, welche nur sich zu dekken suchte, ohne durch entschiedne Opfer dem Ganzen Stärke zu verleihen; des unterthänigen Volkes lautes Pochen um Genuß der Freiheit überall; der aristokratischen Regierungen ungemässigter Eigensinn dagegen, und ihre Ohnmacht und Unstätigkeit in ergriffenen Maasregeln, bald vom Zorn, bald von Furcht eingeflößt; — Frankreichs verschmizte Angriffe auf die alte Ordnung der Schweiz, sein unverheeltes Streben, durch Schrekken die Obrigkeiten zu lähmen, durch Hoffnungen das Volk zur Staatsumwälzung zu führen; — des deutschen Kaisers geheimnißvolles Schweigen bei den Umtrieben Frankreichs in Helvetien, — des Kaisers, der

von

von allen Landmächten des Welttheils allein bei Umgestaltung der Schweiz nicht gleichgültig bleiben dürfte — — alles verkündete die nahe Auflösung der Eidsgenossenschaft.

Viele aber, welche entweder auf Recht und Unschuld der Mehrheit der Kantonen ihre Hoffnungen gründeten, oder, von alter Gewohnheit gebunden, den Umsturz der eidsgenössischen Staatsverfassung nur kaum als Möglichkeit zu träumen wagten, schmeichelten sich gutmüthig mit schnellem Uebergang des Gewitters. Sie glaubten, daß, höchstens eine Vermehrung der Kantonen-Zahl, der Erfolg alles Sturms seyn würde.

Die demokratischen Orte erwarteten allenfalls der Aristokratien Ende, und der Unterthanenschaften Aufhebung. Sie sah'n sich selbst vor dem Sturm geborgen, und glaubten alles zu thun, wenn sie sich nicht tiefer, als alte Verträge heischten, in den Handel der Oligarchien und Frankreichs mischten.

Dies allzugespaltene Interesse der Kantonen, welches den unausweichlichen Umsturz des Ganzen

vorbereitete, warf ein trauriges Licht auf den Werth des Bundessystems, und bestärkte viele Männer in dem Glauben, daß nur Vereinigung aller grossen und kleinen Staaten Helvetiens zu einem einzigen Reiche dem Ganzen Kraft, Sicherheit, Ordnung und Achtung des Auslands gewähren könne.

Andre aber, überzeugt von den Gefahren einer grossen, plözlichen, durch alle Staatszweige treibenden Revolution, bekannt mit dem Elend aller revolutionirten Staaten, vertraut mit dem verschiednen Charakter, mit den eigenthümlichen Wünschen und Bedürfnissen der helvetischen Völkerschaften, fürchteten den Gedanken der allgemeinen Staatsumwälzung. Sie strebten nur nach einer Reform des Bundeswesens, nach einer Entwikkelung der vorhandnen Anlagen. Sie wollten ein vorbereitetes, stufenweises Fortschreiten vom Guten zum Bessern.

Doch bei weiten die überlegene Mehrheit, eingedenk der goldnen Zeiten eines hundertjährigen Friedens, des blühenden Wohlstandes ihrer Heimath, der Verbrechen, mit welchen Frankreich besudelt worden war durch die Revolution, ver-

abscheute jede Staatsveränderung. Stolz auf bishergenossene Selbstständigkeit, war ihr es gleich unerträglich, von der Hand übermüthiger Fremdlinge, oder unzufriedner Unterthanen, Gebot und Gesez zu empfangen. Sie wollte lieber den Vernichtungskrieg, als Revolution; lieber überwunden, als durch Schwäche entehrt seyn; lieber den alten Ruhm der Nation vor Europen, als dessen Glük und Wohlstand durch klüglich dargebotnes Opfer gerettet sehn.

Auch siegten die Stimmen dieser Mehrheit in den Berathungen der Tagsatzung. Die aristokratischen Stände appellirten an das Schweizergefühl ihrer demokratischen Brüder, und diese nährten mit ihnen gleichen Groll gegen Frankreichs Entwürfe. Es schien ihnen genug, der grossen Nachbarrepublik Ehrfurcht gegen die Eidsgenossenschaft einzuflössen durch die Einigkeit der Eidsgenossen. Um über die Schwäche und Trennung der helvetischen Staaten einen allesverbergenden Mantel zu werfen, dranaen die Aristokratien der Schweiz daher auf feierliche, allgemeine Bundesbeschwörung. „Wollen

wir den Augen der Welt die Eintracht der Schweizer zeigen," — sprachen aber die demokratischen Orte: „so sei es durch des schreienden Volks Beruhigung und Zufriedenstellung!"

Doch leisteten alle Kantone und mitverbündeten Orte den Bundesschwur am fünf und zwanzigsten Jenner zu Arau. Aber im Kreise der Eidsgenossen war schon jezt der Stuhl von Basel leer, und ein wesentlicher Ring mangelte in der Bundeskette. Basel hatte am 21. Jenner seine Regierungsform verändert.

Dies ist der erste und lezte Bundesschwur der gesammten eidsgenössischen Staaten gewesen — mehr Name, als Wesen einer That — krampfhaftes Lächeln eines Sterbenden. Beinah aller Augen weinten bei der feierlichen Handlung; ihrer viele, Thränen der Freude ob vermeinter Rettung des Vaterlandes; ihrer viele, gerechtere, von bangen Ahndungen der Zukunft erpreßt. *)

*) An eben diesem Tage ereignete sich das Unglük bei Thierens, welches den Einmarsch fränkischer Truppen in die Schweiz entschied.

Und schon am Abend desselben Tags liefen amtliche Nachrichten ein, daß der Aufruhr längs den Ufern des Leманer Sees in hellen Flammen lodre; Landvögte seyen entflohen, oder verhaftet; Berns Wappen zerschmettert; Bäume der Freiheit aufgepflanzt und das Geschüz von Chillon gen Vivis geführt, zum Kampf des Leman gegen Berns Hoheit.

Diese Botschaft zerstreute, wie ein Donnerschlag, die Tagsatzung. — General Menard war mit fränkischen Fahnen in die Waat eingezogen. *) Bern foderte die Kantonen zum bundesmässigen Zuzug auf.

Am ersten Hornung war es, daß sich das Volk von Schwyz zur Landesgemeinde versammelte. Es vernahm nicht ohne Staunen und Unwillen die Ereignisse der leztern Tage. Es beschloß mit feierlicher Einmüthigkeit: „Wiewohl der Bundesfall eigentlich noch nicht eingetreten sey, wollen wir dennoch unsern lieben Brüdern von Bern, wie ehmahls unsre Väter bei Laupen, thätige Hülfe leisten. Zwei

*) 26. Jenner.

Bataillons, jedes sechs hundert Mann, sollen des Aufbruchs bereit seyn. Das erste wird abgehen, sobald die Truppen der Vororte ausrükken; das zweite folgt, wenn Unterwalden und Zug ihre Schaar senden." *)

Das Volk von Schwyz aber vernahm, daß, wie am Leman, auch im Zürich-Gebiet und in den meisten aristokratisch regierten Ländern ein Gähren und Toben sey, und Span zwischen Volk und Regierung und Trachten nach Freiheit; — der Leidenschaften Tosen lähme das Vaterland und werfe es dem Ausländer hin, eine wohlfeile Beute. Darum ward von den Männern der Landsgemeinde verordnet: „Es sollen vier Kriegsräthe **) unsern Truppen voran gehn, und auf alle Weise den Hader zwischen Volk und Regierung Berns zu mildern suchen; und sie sollen die Stimmung des Volks von Bern erkunden, und, wenn sie dasselbe einig und entschlossen

*) Siehe Landsgemeinde vom 1. Hornung.

**) Dazu wurden ernannt: Alt-Landamman Schorno, Alt-Landvogt Xaver Weber, Major Jakob Zweyer, und Gesandter Martin Anton Schueller.

sehen, jeden anrükkenden Feind abzutreiben, sich aller Orten im deutschen Gebiet der Stadt Bern gebrauchen zu lassen. Im Fall sie aber das Gegentheil wahrnehmen, oder gar die bisherigen Bünde aufgelößt werden, dann sollen sie mit unserm Volk nach Hause zurükkehren."

Also wollten die Schwyzer, ihren demokratischen Gesinnungen treu, keineswegs den Bernern ihre Waffen leihn im entscheidenden Augenblik zur Unterdrükkung des Landmanns. Ahndung vom Untergang bernischer Hoheit umschwebte die Landsgemeinde; ängstlich-treu am Wort des Bundes klebend, nur für eigne Sicherheit wachsam, vergas sie, daß, mit dem Einsturz des eidsgenössischen Vorwalls gegen Frankreich, die übrige Schweiz schirmloser da stand, als jemahls.

Schwyz verkündete inzwischen die gefaßten Beschlüsse seinen ersten Bundesbrüdern, denen vom gesammten Unterwalden und von Uri, und foderte sie zur drei-örtischen Zusammenkunft in Brunnen am See auf, Raths zu pflegen über die gen Bern zu sendenden Hülfsvölker, und des „eignen" Vaterlands Gefahr in diesen Tagen.

Da kamen die drei Orte auf Brunnen am See zusammen. *) Unterwalden regte zwar vielerlei Bedenklichkeiten an, wegen des Zuges auf Bern, sintemahl der Bundesfall noch nicht vorhanden sey; vereinte sich aber endlich mit Schwyz, die Hülfe zu senden. Und ward, „da sich noch keine so nahe Gefahr zeigte," beschlossen: „es sollen sich beim ersten Ruf des Vorortes Uri sämmtliche Abgeordnete schleunig wieder versammeln." **)

Selben Tags hatte das zagende Bern feierlich verkündet, daß binnen Mondesfrist ein Ausschuß von rechtschaffenen Staatsbürgern gebildet werden solle, diejenigen Veränderungen in der Staatsverfassung vorzunehmen, „die das Wohl des Vaterlandes erfodert und dem Geist der Zeiten angemessen sind." Die Verbesserung der Landesordnung solle „ohne einige fremde Einmischung" vorgenommen, „binnen einem Jahre" vollendet seyn.

*) Am 7. Hornung.

**) Siehe Abscheid der drei-örtischen Conferenz in Brunnen, vom 7. Februar.

Dies grosse Hingeben aller oberherrlichen Rechte, dargebracht von Berns Regierern, fiel zu spät, das unerbittliche Verhängniß zu beschwören; es stürzte nicht die kalte Scheidewand des Mistrauens wieder, welche der Unterthanen und Obrigkeit Herzen trennte. Oft löscht kein Wolkenbruch die Flammen, denen ein Wassertropfen im rechten Augenblik vernichtend gewesen seyn würde.

Da bot Bern der andern Kantonen Hülfe verzweiflungsvoll auf, um durch Furchtbarkeit den Preis des Friedens zu vermindern. *) Aber von mancherlei Umständen gebunden, zögerten die Eidsgenossen. Nur Zürich sandte ein Bataillon, auch Schwyz, eingedenk seines Wortes, den ersten Zuzug an Mannschaft, geführt vom Landes-Hauptmann Aloys Reding. **)

---

## 4.

Bald aber wurde Schwyz selbst in häuslichen Zwist verwikkelt. Es schien vergessen zu haben,

*) Bern, 7. Hornung.

**) 11. Februar.

als sein stiller Tadel gegen Bern traf, daß es ebenfalls, gleich andern Schweizerstaaten, Angehörige, oder Unterthanen habe, welche nach dem Genuß voller Freiheit gelüsteten. Nicht nur herrschte es gemeinsam mit allen Kantonen (ausser Appenzell) über die vier italienischen Landvogteien, Locarno, Val-Maggia, Lugano und Mendrisio — gemeinsam mit den acht alten Kantonen über das Thurgaü, Sargans, das Rheinthal und die obern freien Aemter, — mit Uri und Unterwalden über die Vogteien Bellinzona, Riviera und das Polenzerthal; — mit Glarus über Gaster und Uznach, — sondern es übte Oberherrlichkeitsrechte, unverbunden mit andern Eidsgenossen, über den Flekken Küsnacht am Waldstätter-See, und über das Thalgelände der Waldstatt Einsiedeln, über die Höfe am Zürichsee und die March.

Obgleich diese leztern Landschaften, unmittelbar-Angehörige genannt, grosser Vorrechte genossen, fühlten sie dennoch ihre Abhängigkeit. Bei der allgemeinen Gährung glaubten auch sie den Augenblik benutzen zu können, mit den übri-

gen in gleiche Familienrechte einzutreten. Zuerst und am lautesten äusserte sich darum gegen Schwyz die March.

Dies ist das schöne Geländ, welches sich von dem Rederten und dem Fläschenspiz, den Nachbarbergen des hohen Bragel, auf beiden Seiten des wilden Aa-Flusses anfangs in ein enges, rauhes Thal (das Weggithal,) zusammengepreßt, nachher am südlichen Ufer des Zürichsees lachend ausbreitet. Seine Matten und Wiesen ruhn im Schatten nüzlicher Fruchtbäume. Ueppige Waldungen bekleiden die Gebirgshalden.

Das Volk dieser Gegend wählte seinen eignen Landamman, und bestellte seinen besondern Rath von 45 Männern, der zu Lachen am Zürichsee Versammlungen hielt, und in bürgerlichen Händeln richtete. Von ihm gieng die Appellation an den Landrath von Schwyz. Ein eignes Gericht von neun Männern sprach in den Zwisten über Erbe, Ehr und Gut; auch von ihm konnte auf Schwyz appellirt werden. Bey groben Verbrechen entschied aber Schwyz zuvor, ob ein Blutgericht statt haben solle. Wann der Oberherr es genehmigte, wurde, unter dem Vorsiz des Landes-

sekelmeisters von Schwyz, das Blutgericht gehalten, zusammengesezt aus dem Landamman und allen Rathsgliedern der March, von welchen jeder noch einen redlichen Mann ab der Landschaft dazu ziehen mußte. — Wie in Schwyz pflegte auch hier das Volk unmittelbar seines Hoheitsrechtes in versammelter Landsgemeinde. Alljährlich ward sie gehalten am ersten Sonntag des Mays bei Lachen auf der Allmennde, unter einer grossen Linde. Zwei Landräthe und der Sekelmeister von Schwyz mußten dabei gegenwärtig seyn.

So hatten die Bewohner der March in milder Abhängigkeit von Schwyz seit beinah vier Jahrhunderten gewohnt,*) als auch sie, vom Geist der Neuerung ergriffen, nach höherer Freiheit streben lernten. Weit um sie her, an beiden Ufern des Sees tönte schon lange unter dem Landvolk der Ruf um Freiheit, gegen die gebietende Stadt Zürich.

*) Schwyz hatte die untere March in dem mit Oesterreich geschlossenen 50jährigen Frieden im Jahr 1412, und die obere March im Jahr 1427 von Friedrich, leztem Grafen von Toggenburg, empfangen.

Als Schwyz nun, gemäs altem Herkommen und Geseż, von der March Kriegsvolk foderte, zum Zuge auf Bern, fragte der Landmann: „Warum? wohin? und gegen wen sollen wir ins Feld ziehn? soll's gelten gegen die Unterthanen von Bern? wir wollen ihnen die Ketten nicht schmieden helfen!“ —— Es sammelte sich straks zu Lachen, dem Hauptorte der March ein Lands- und Kriegs-Rath, welcher das Geschäft der Landsgemeinde vortrug. Das Volk, von rüstigen Führern geleitet, erhob sich und rief: „sollen wir für Vaterland und Freiheit ausziehn, wenn wir ohne Freiheit sind?“ Und es sandte an Schwyz ein Mahnungsschreiben um Freiheit, folgenden Inhalts: „Wir haben nach ächter Erdaurung des Menschenrechts u. s. w. gutbefunden, weil

1) „Die Hoheit selbst“ (nämlich Schwyz) „andern löblichen Ständen die Befriedigung gegen Untergebne mit wahrer Vaterlandsliebe nachdrukſamst angerathen, und wirklich solche von aristokratischen Ständen mit Ertheilung voller Freiheit vollzogen worden,“

2) „Weil der löbl. Stand Schwyz die Landschaft March ohne Kosten und Blutvergiessen an sich gebracht,“

3) „Die Landleut in der March mit Verlust ihres Lebens gleich den Landleuten von Schwyz namhafte Eroberungen gemacht, von welchen das Land zu Schwyz die ergieblichen Früchte bis dahin genossen und den Landleuten in der March nichts zukommen lassen, und weil“

4) „Die Landleut' in der March um Erleichterung ihrer immer mehr auferlegten Beschwerden und Verschmälerung der Rechte untern 18. April 1792 vom hochweisen gesessenen Landrath zu Schwyz in aller Unterthänigkeit gebeten, und statt Milde zu erhalten, mit einem höchst misbeliebigen Instrument, dessen Beschluß lautet: „mit und ohne Ursach mindern, mehren, oder des gänzlichen aufheben zu mögen,“ sind abgewiesen worden:“

„Daß also billig und gerecht seye, daß die Landschaft March eine vollständige Freiheit und gänzliche Entlassung

des hohen Standes Schwyz, ihre Regierung für Land und Leut jezt und zu allen künftigen Zeiten von Dato an begehren und verlangen könne und solle. Hingegen stehet man in Bereitschaft für Freiheit, Vaterland und heilige Religion ins Feld zu ziehn, zu streiten und zu kämpfen." *)

Diese Sprache erwekte beim Volk von Schwyz allgemeinen Unwillen und grosse Bestürzung. Es war nicht die Zeit, wo der alte Oberherr sein Recht mit dem gezükten Schwerdt beweisen konnte. Glimpflichere Wege konnten versucht werden, verhiessen aber geringen Trost. Darum streute der Landrath von Schwyz eine Drukschrift **) aus, ungewissen Erfolgs und folgenden Geistes:

„Von jeher, ihr wisset es, Liebe und Getreue, war es unsre erste Sorge, eure Wohlfahrt mit

*) Diese Urkund ist abgefaßt auf dem Rathhaus zu Lachen den 10. Februar 1798, von der Land- und Kriegs-Commission, nachher in der versammelten Landsgemeinde einhellig angenommen und bestätigt auf der Allmennde bei Lachen den 11. Februar 1798 von Landamman, Räthen und gemeinen Landleuten in der March.

**) Schwyz. Proklamation, 13. Februar.

der unsrigen zu verbinden; — unzählige Jahre haben wir, und ihr mit uns, die Früchte dieser Sorge genossen; während alle Drangsale des Kriegs benachbarte Länder überschwemmten, ward durch unermüdete Anstrengung Ruhe und Frieden in unserm Innern erhalten."

„Als aber endlich der Zeitpunkt gekommen, wo Gefahr von aussen und von innen auch unser glükliches Vaterland bedroht, und lebhafter, als jemahls, die Ueberzeugung aufwacht, daß nur ein getreues Zusammenwirken aller Kräfte vor den drohenden Gefahren uns retten könne, da wurden wir von Dank und Rührung für diejenigen unsrer Angehörigen durchdrungen, die in diesem Augenblik der Noth und beinah allgemeiner Verführung ihre Treu und ihre Anhänglichkeit gegen ihre Obrigkeit und ihr Vaterland auf eine Art bewiesen, die ein rührendes Beispiel für andre seyn sollte. Auch jene unsrer Angehörigen, die ihre Wünsche, welche von den Begebenheiten des Zeitalters mögen erzeugt worden seyn, sollen und werden ein Gegenstand unsrer liebevollen Vatersorgen seyn, und wir werden uns unverzüglich

und angelegen beschäftigen, die Treue und Angelegenheit der einen zu belohnen, die bescheidenen und mit ihren Pflichten immer verbundenen Wünsche der andern durch jede Entsprechung zu befriedigen, die mit der Wohlfahrt des Ganzen sich immer vereinbaren läßt. Wir werden alle unsre Bemühungen dahin richten, ihren Wohlstand zu vermehren, und uns mit ihnen durch noch engere Bande zu verbinden.“

Der Schluß des Aufrufs droht warnend alle Stifter des Aufstands und der Zweitracht mit strenger Strafe, „und damit diese unsre landesväterlichen Gesinnungen zu männiglicher Wissenschaft gelangen, sollen sie in unsern getreuen Landschaften Einsiedeln, Küsnacht, und den beiden Höfen Pfäffikon und Wollrau öffentlich von den Kanzeln verlesen und an den gewohnten Orten öffentlich angeschlagen werden.“

Umsonst ergiengen an die March Glimpf und Ernst und die geheimen Winke, aus welchen Hoffnung floß. Die Zeiten hatten geändert, und

dem, was noch vor wenigen Wochen Gnade hies, heute schon Ansehn der Schuldigkeit verliehn. Der Drohung fehlte jezt das Schrekken; den Verheissungen gebrach das Vertrauen. In den schweren Zeiten der Gefahr scheitern die Künste der Staatsklugheit; nur die einfache, unantastbare Tugend darf dann mit der gewaltthätigen Leidenschaft in den Kampf treten, ohne Furcht ganz zu verlieren.

Der Landrath von Schwyz aber lies es nicht bei jenen ersten Aeusserungen. Er schrieb den Vorstehern der March folgende Worte des Missmuths: „So wahr es ist, daß Schwyz gegen andre Stände alles gethan, um zwischen Obrigkeiten und Volk Vereinigung zu bewirken; so wahr es ist, daß beinahe alle aristokratischen Stände ihre Verfassung in eine demokratische umgeändert: eben so gewiß sind die Marchbewohner das erste Volk, das sich selbst durch empörende Schritte frei und unabhängig erklärt, und von seinem natürlichen Landesherrn gewaltsam sich losreissen möchte, und zwar grade in dem Zeitpunkt, wo selbiger beschäftigt war, mit seinen Angehörigen sich ebenfalls noch enger zu

vereinigen.“ *) Auch foderte der Landrath die Führer der March unter Verantwortlichkeit auf, diesen Brief nebst einem beigebognen, gedrukten, „landesväterlichen Zuruf an das irregeführte Volk in unsrer Landschaft March“ **) den gemeinen Landleuten kund zu machen.

Dieser Zuruf ist allzumerkwürdig, als daß wir ihn nicht näher kennen lernen sollten. Er zeuget davon, wie schwer es selbst den demokratischen Ständen ward, ihrer Herrschaft Glanz aufzugeben, und wie, um ihn zu retten, beim Mangel andrer Kraft, kein List-Mittel der Politik gespart wurde.

„So empörend,“ lautet es im landesväterlichen Zuruf: „die Auftritte sind, die bei euch vorgiengen, — so kann dies alles unsre Empfindungen der Liebe, der Anhänglichkeit und des Mitleidens gegen den biedern Marchbewohner nicht erstikken.“ —

*) Schreiben von Schwyz, 16. Februar.

**) Proklamation. Schwyz, 16. Februar.

„Ja, redlicher, biederer Landmann, öffne sie doch, deine Augen, um das Nez zu sehen, das dir von schlauen Händen gelegt wird; bedenke doch selber mit deinem gesunden Menschenverstande, ob sie werden in Erfullung gebracht werden können die eiteln Träumereien von einer völligen Unabhängigkeit, die dir jezt in einer Art von Berauschung vorgespiegelt werden. Wenn du kaltblütig und unbefangen nachdenkest, wirst du wohl glauben können, daß euer kleines Land zu einer selbstständigen Republik werde gemacht werden können? Wirst du glauben können, daß diese Republik von den übrigen Ständen der Eidsgenossenschaft, die sich alle, in ihrem ganzen Wesen zu behaupten, und in Absicht auf ihre Grösse unverändert zu bleiben gedenken, werde anerkannt werden? Doch, wir wollen zugeben, daß mitten in unsrer grossen Staatsveränderung so eine besondre, neue Republik entstehen und bestehen könnte, würde wohl das gute Landvolk vieles dadurch gewinnen? Würde es nicht zu weit grössern Abgaben angehalten werden, um die Kosten der neuen Einrichtung und die nachherigen Bedürfnisse nach dem Plan ihrer Führer

zu bestreiten? Würde es glüklich unter der Regierung einiger Ehrgeizigen seyn, die es um so minder schonen würden, als der Landmann dann gegen diesen Druk weder Schuz noch Hülfe mehr finden könnte? Ists möglich, könnet ihr ein ungewisses Schikſal der Vereinigung mit euern Landesherrn vorziehn?"

„Allein auch das ist nicht der Punkt, wohin man euch führen will. — Er, der redliche, stille Landmann kann es nicht wissen. Nur einige Rädelsführer wissen es, was für ungeheure Pläne wirklich gemacht worden sind, unserm gesammten Vaterland eine Gestalt zu geben, mit der sich weder die Religion unsrer Väter noch der bishin genossene Ruhestand vertragen könnte. Einer dieser Pläne liegt wirklich in unsern Händen. Schon ist in demselben die Landschaft March in eines jener sogenannten Departementer eingetheilt, in die unsre liebe Schweiz vertheilt werden sollte. Vermuthlich hat man euch darum angegeben, euch von unserm Stand zu trennen, damit ihr dann desto schiklicher einem entlegnern Departement einverleibt werden könnet, ohne zu achten, ob es dann für euch schiklich oder glüklich seyn möchte."

„Eine der ersten Grundlagen der neuen Verfassung würde Freiheit der Religion, der Meinungen und aller Art heutiger Aufklärung seyn. Wie lange bei diesen Grundsätzen die Religion eurer frommen Väter bestehen würde, mag auch der Kurzsichtige einsehen, u. s. w.“

So schlau nun auch immer der Zuruf alle bisherige Interessen des Volks jener Gegenden anregen mochte, blieb er doch ohne Gewinn für die Hoffnungen von Schwyz. Und hätten Prophetenzungen damahls die schrecklichen Geheimnisse der Zukunft verrathen; hätten sie geweissagt die traurigen Zeiten des allgemeinen Kummers, der verheerenden Kriege, des Kampfes der Nachbar-Mächte und der Barbaren des Nords in jenen blühenden Gefilden; und wie Dörfer verödet werden, und Schaaren hungernder Kinder ausziehn würden in fremde Gegend, sich neue Eltern und Obdach zu suchen — wer würde geglaubt haben?

Die Bewohner der March, in der Erinnerung jener Thaten, durch welche Schwyz einst gegen Oesterreich „sich empörend“ frei ward von der Botmäßigkeit seines „natürlichen Landes-

Herrn," achteten des landesväterlichen Rufes nicht. — Schwyz selbst aber, von der Fluth der Umstände bald umgeben und hinweggerissen, gab den Gedanken auf, die March ferner zu beherrschen; wünschte zulezt nur, daß dies Land in seiner Freiheit dem Stande Schwyz vereint werde, um diesem nicht mit dem Herrscher-Glanz die Stärke zugleich zu rauben.

Bescheidenere Ansprüche wagten die Einwohner von Wesen am Wallenstattersee, und von Uznach am Ufer des Zürichsees.

Wesen im Gasterland seit dem Jahre 1438 den Ständen Schwyz und Glarus unterthan, da es vom Graf von Toggenburg an diese verpfändet und nie eingelöst ward, heischte nur Abnahme der allfälligen Beschwerden. *) Und Uznach, seit 1469 an dieselben zwei Kantone verkauft, bat nur um das Recht eigner Regierung, unterm Schirm von Schwyz und Glarus, gegen alljährlich diesen zu entrichtenden Tribut. **)

*) Schreiben. Wesen, den 13. Februar.

**) Schreiben. Uznach, den 13. Februar.

Aber die Ereignisse dieser Tage trafen so schnell und erschütternd auf einander, daß kein Ruhepunkt zu friedlichen Vergleichen und Unterhandlungen gefunden ward. — Die Unterthanenschaften in Helvetien erwachten überall und traten, mehr oder minder schüchtern, vom Geist der Freiheit geleitet, in die Bahn der Revolution. Rings um die Waldstätte her braußten die Volksmassen schon, da sich auch mit Ungestümm die unterworfenen Landschaften erhoben, so jenseits der Alpen gelegen sind.

---

## 5.

Als unter Bonapartes Siegen in Italien die eroberte Lombardei zum Freistaat Cisalpinien geworden, hatten die Eidsgenossen zwei Männer gen Lugano geordnet, gutes Vernehmen zu unterhalten mit der neuen Nachbar-Republik, und den fränkischen Heeren, so damahls über Welschland herrschten. Felix Stokmann von Obwalden und Bumann hiessen die Abgeordneten. Zwar empfiengen sie anfangs Bezeugungen der Achtung und Freundschaft vom cis-

alpinischen Direktorium in Mailand, *) aber bald verwandelten sich umher die Dinge.

Die cisalpinische Regierung, kaum des eignen Daseyns sicher, entwikkelte schnell ihren Charakter, wie ihn der warme italienische Himmel und der romantische Umschwung der Dinge gezeugt hatten. Geneigter zu glänzen, als zu nützen, geneigter durch das Spiel der Intrigue die Nachbarn zu verrwirren und den Staatskörper der jungen Republik durch Eroberungen zu bereichern, als sein zu pflegen durch weise Leitung, spann sie in den welschen Vogteien der Schweiz Partheiungen an, um das Volk derselben zu vermögen, sich beim Umsturz der Eidsgenossenschaft an Cisalpinien zu schliessen, wie Bündtens Valtelin es gethan. Di Beschaffenheit des Landes, durch die höchsten Gebrgsketten von der übrigen Schweiz abgeschieden, di Armuth der Thäler, welche sich überall nur gega das fruchtbare Italien öffnen, von woher sie ir Korn beziehn, die Sprache Italiens, welche inzig hier geführt wird — alles redete zu Gunsten der Wünsche des cisalpinischen Direktoriums.

*) Relation vom 7 Februar.

Nun scholl dazu das Gerücht vom Anzug fränkischer Heerschaaren, die sich, unbekannter Bestimmung, an den Gränzen der italischen Schweiz, von Como bis zum Lago maggiore ausdehnen würden; es scholl von der nahen Zeit, wo Freiheitsbäume erstehen sollten auf den Plätzen von Lugano und Mendrisio. *)

Schon entwikkelte sich freiwillig in den eidsgenössischen Unterthanen jenseits der Gebirge der Gährungsstoff. Basel selbst aber war es, welches auch dort die Revolution zuerst hervorrief. Nachdem dieser Stand die unveränderlichen Rechte der Menschheit einmahl feierlich anerkannt hatte, that er „auf alle jene Oberherrlichkeits-Rechte vollkommen Verzicht, die er bis dahin auf die vier Vogteien ennet dem Gebig antheilsweise besessen.“ **)

Dieser, das alte eidsgenössische Staatswesen bis zur Zerstöhrung erschütternd, Schlag wurde noch vom Vorort Zürich mit schwachem Arm aufgefangen. Die Regierung dieser Stadt gebot

*) Relation der Deputirten, von 11. Februar.

**) Basel an Zürich.

den Repräsentanten zu Lugano vorläufig: „trachtet vor allem, fremde Einmischung in dortige Angelegenheiten zu verhüten. Wendet euch zu dem Ende, sobald die Umstände fodern, an Cisalpiniens Regierung und den Finanz-Administrator Haller, welcher der Eidsgenossenschaft seine Gefälligkeitsbegierde auf die verbindlichste Art zugesichert hat. Da in dermaliger Lage keine Anwendung der Gewalt Plaz findet, so richtet euch mit kraftvollen Vorstellungen an die Regenten und Vorgesezten der Landschaften, alle Gesezlosigkeiten zu verwehren, und Beifügung, daß von den regierenden Ständen allen billigen Wünschen und Bitten dieser Landschaften werde entsprochen werden. Ihr habt euch in unerwarteten Vorfällen übrigens an die benachbarten Kantone Uri, Schwyz und Unterwalden um Rath und Unterstützung zu melden.“ *)

Der Brief kam zu spät. Die Häupter der cisalpinischen Parthei in den welschen Vogteien hatten ununterbrochen durch Flugschriften und Reden den Landmann für ihre Absichten bearbeitet. Das Volk voll Durst nach Freiheit,

*) Zürich, 15. Februar.

aber eben so voll Nationalgrolls gegen die Mailänder, entsprach freilich ihren Wünschen nicht ganz; beiweiten die Mehrheit des Landes sehnte sich, helvetisch zu bleiben. Aber eben dieser Widerstand reizte nur die Thätigkeit der cisalpinischen Faktion. Junge Männer, mit glühender Einbildungskraft und rohen Talenten, gespornt von Ehrgeiz und Freiheitsschwärmerei, standen an der Spitze derselben. Die Schwäche ihrer Zahl ersezte Verwegenheit der Entschlüsse und Thaten. Die Lähmung der Eidsgenossen, und die Unordnungen an den Gränzen schwärmender Truppen Cisalpiniens und Frankreichs begünstigten gewagte, abentheuerliche Unternehmungen. Sie warben nicht ohne geheimes Wissen der mailändischen Regierung, allerlei müssiges Volk aus dem Bergamascischen und Brescianischen, bekleideten und waffneten es, und wollten mit diesem ertrotzen, was Beredsamkeit nicht zu wirken vermochte. *)

*) Der Schreiber dieser Geschichte, welcher in dem Jahre 1800 als helvetischer Regierungscommissär die italienische Schweiz wieder constitutionell organisirte, hatte nicht nur Gelegenheit, die Häupter der verschiedenen Faktionen kennen zu lernen, son-

Bald stürzten von allen Seiten Nachrichten herein vom Anrükken italienischer Schaaren. Aus Lugano flog ein Eilbote nach Mailand, um Gewaltthaten zu verhindern. Dies geschah am 14. Februar.

Am folgenden Morgen, in der Frühe um fünf Uhr stiegen 240 fremde Soldaten, über den schönen Lugano-See hergeschifft, ans Land bei Lugano, Freiheit und Vereinigung mit der cisalpinischen Republik zu erwirken. Luganesische Jünglinge führten den Kriegshaufen, welcher nur Vortrab einer grössern Schaar hies. Sogleich rollte die Trommel den Generalmarsch; die helvetischgesinnten Volksführer rüsteten Widerstand; Freiwillige liefen zur Gegenwehr herbei, und die Cisalpinischen fiengen an auf diese zu feuern. — Ein Sekretär, an den feindlichen Befehlhaber zur Vermeidung des Blutvergiessens gesandt, wurde unter der Thür des Hauses von funfzehn Cisalpinern angefallen und fortgerissen. Andre dranoen

dern auch sich von der Theilnahme des cisalpinischen Direktoriums an jenen oben erzählten Ereignissen bis zur moralischen Gewißheit zu überzeugen.

in das Gemach der eidsgenössischen Repräsentanten, bewachten sie, als Gefangne, inzwischen unter ihren Fenstern das Gefecht hitzig fortgesezt wurde. Es dauerte eine Stunde. Die Cisalpinischen wichen in ihre Kähne. Die Bewacher der Repräsentanten wurden gefangen, und den Feinden ausserdem noch vier Fahnen und dreissig Flinten genommen. Die Verwundeten sandte man ins Spital zur Pflege; die Gefangenen nach Porlezza. Nur einer von den helvetischgesinnten Freiwilligen *) wurde bei diesem Handgemenge erschossen. Ein neuer Eilbote gieng mit Anzeige dieser Ereignisse gen Mailand. In Lugano ward ländliche Besatzung gelegt.

Die Ruhe schien wieder hergestellt, obgleich der Knoten des Räthsels erst geschürzt, noch nicht gelöst war. Die Stellvertreter der Eidsgenossenschaft waren offenbar Fremdlinge in allem, was geschah. Unvertraut mit dem Herzen des Volks, ohne eigne Kraft sich furchtbar, ohne Vollmacht durch Gewährung stürmischer Wünsche sich gefällig zu machen, standen sie in banger Unent-

*) Namens Taglioretti.

schlossenheit und erwarteten alles Fürchterliche, ohne Mittel es zu verhüten.

Am Abend desselben Tags, um die Dämmerungsstunde, strömte von neuem eine ungeheure Menge Volks zusammen; denn die Cisalpinischen oder, wie sie sich nannten, „Patrioten“ rasteten nicht, ihr Werk zu vollführen. Bald umringten zwei bis drei tausend Mann, ihrer viele bewaffnet, mit wildem Geschrei das Quartier der Repräsentanten. Nach einigem Getümmel löste sich aus der verworrenen, umherwogenden Masse eine Deputation, welche, den Advokaten Pellegrini an der Spitze, in das Zimmer der Repräsentanten trat. „Wir fodern,“ sprach Pellegrini: „wir fodern unsre heiligen Rechte zurük, wir fodern die Freiheit der Schweizer! Endlich, nach hundertjähriger Unterthanenschaft, sind wir, uns selbst zu regieren, wohl reif!“

Als die Repräsentanten den Mangel ihrer Vollmachten zu einer genügenden Antwort vorschirmten, erhob sich weit umher heftiger der Tumult, als vorher. Befehlenden Tons verlangte man nun von den Stellvertretern der Eidsgenossenschaft schriftliche Freiheitserklärung. Furchtsam unter

dem sie bedrohenden Volksgrimme schrieben sie, wie lautet:

„Da sich heut Abends eine grosse Menge von Lawis (Lugano) zu uns verfügt, und die schweizerische Freiheit verlangt hat, um bei diesen kritischen Zeitumständen bei dem Volk grössern Eifer zu erwekken, das Land zu beschützen, — — so haben wir ihnen gesagt, daß dies nicht in unsrer Gewalt seye, mithin es auch nicht zugeben können.— Da sie aber solches nachdruksamst begehrten, antworteten wir, daß wir es auch nicht verwerfen können.“

Lauis, den 15. Februar 1800.

„Im Namen und auf Befehl der
Schweizer-Repräsentanten:
Imfeld, Sekr.“

Kaum war dies Werk der bittern Noth gemacht, als schon wieder das Gerücht erscholl, 300 Cisalpinische seyen in Porto *) eingerükt, wohin auch von Varese ein Wagen mit Gewehren abgegangen.

Der

*) Ein Dorf an der südlichen Spitze des Luganer-Sees, cisalpinischen Gebiets.

Der Nachricht folgten unmittelbar zwei Offiziers, ein Franke und ein Cisalpiner. Diese eilten zu den Repräsentanten, foderten sie auf, binnen zwei Stunden das Volk zu versammeln, auf daß es sich erkläre: „ob es mit der Schweiz, oder mit Cisalpinien vereint seyn wolle?“ — Dabei überreichten sie folgende Note:

„An die Herrn Repräsentanten der schweizerischen Kantone. Den 22. Pluviose, Jahr 6 der Republik.“

„Die Freiheit, welche das Herz eines jeden Patrioten, der seine Menschenwürde fühlt, wie ein Blizstrahl entzündet, ist auch in eure Kantone eingedrungen. Eure Brüder inner den Alpen haben im Angesicht der ganzen Welt die Demokratie ausgerufen, für die eure Ahnen des Bluts so viel vergossen. Dies heilige Feuer hat auch die Seelen der Patrioten disseits der Alpen entflammt; sie sind entschlossen, entweder frei zu leben, oder zu sterben. Im Namen aller, die nun bereit sind, für die Demokratie ihr Blut zu verspritzen, werdet ihr aufgefodert, alle jene Rechte auf der Stelle abzulegen, die ihr auf diese schweizerische

Landvogteien zu haben glaubet; die Schaaren eurer Freiwilligen hier zu entwaffnen, *) und jenem Volke gänzliche Freiheit zu ertheilen, welches Euch Brüderschaft und Freundschaft anbeut. Nach dem Empfang dieser Schrift entschliesset euch binnen einer Stunde. Wenn ihr hartnäkkig beharret, dieses Volkes Oberherrlichkeit zu behaupten, dieses Volkes, welches frei zu werden geschworen; so klaget nicht, wenn ihr feines Grimmes Opfer werdet. Ersparet das Blut eurer Brüder! — seyd ihr denn aber dessen begierig; so werden die Bajonette der Republikaner sich in dem Blute ihrer Feinde zu sättigen wissen." —

„Gruß und Freundschaft, wenn ihr diese wollet."

Unterzeichnet: „Steffano Riva,
Commendant.

Giov. Batt. Quadri,
Adjunkt.

Antonio Fontano,
Sekretär."

*) Die Freiwilligen waren meistens von der Parthei der Helvetisch-Gesinnten, also entschiedne Anti-Cisalpiner.

Bumann, seiner Pflicht eingedenk, wankte nicht unter den Drohungen der jungen Luganeſen, die dies Schreiben mit ihren Namen bezeichnet hatten. Er deutete auf ſeine Vollmacht, und deren enge Schranken. Beſtürmt aber immer wüthiger von allen Theilen, verſprach er wenigſtens mit dem Amts-Genoſſen in Berathung zu treten. Doch Stokmann hatte ſich ſchon entfernt durch heimliche Flucht. Die Wildniß und Nacht des Monte Cenere *) war ihm minder ſchrekkenvoll, als das Toben des Volks um Befreiung. — Da verlangte Bumann für ſich Friſt bis zur Heimkunft des nach Mailand an den Miniſter Teſti geſandten Eilboten. Sie ward ihm gewährt.

Als Stokmanns Entrinnen ruchtbar geworden, empfieng der zurükgebliebene Repräſentant 12 Mann Wacht. Die Freiheitsbäume wurden gepflanzt, inzwiſchen ſich eine einſtweilige unabhängige Regierung gebildet hatte, die feierlich verkünden lies, daß das Volk, unter Ge-

*) Der monte cenere, oder Mont Kennel, iſt der Berg, welcher Lugano von Bellinzona trennt.

nehmigung der eidsgenössischen Stellvertreter, seine Freiheit und Gleichheit beschlossen habe, daß Vergessenheit erklärt werde über jedes Vergangene, um allgemeine Eintracht zu befördern.

Dies alles war die Geschichte eines einzigen Tages. *) Die helvetische und cisalpinische Parthei lagen jezt in unverheeltem Kampf. Das Blut Tagliorettis, vergossen durch Luganesen, schrie um Rache und heischte Blut. -- Die Führer der helvetischen Faktion, an Zahl und Einsicht überlegner, hätten vielleicht die Revolution noch nicht gemacht, wenn das Treiben der Cisalpinischen sie nicht unverhinderlich zu grossen Gegen-Entschlüssen fortgerissen. Das Volk war allzusehr in Bewegung. Es blieb den Helvetischen nichts, als die Staatsumwälzung zu Gunsten der Schweiz zu spielen, um die Wünsche der Cisalpiner zu vereiteln. Man pflanzte den Freiheitsbaum; aber der Triumpf der Cisalpiner war nur halb; statt der lombardischen Kappe erhöhte das Volk den Hut Wilhelm Tells.

Der Eilbote kam folgenden Tags zurük von Mailand. Sobald er aus dem Schiffe trat,

*) Des 15. Hornung.

wurde er von der zusammenströmenden Menge umgeben, welche vor der Einverleibung in Cisalpinien zitterte, und zum Repräsentanten begleitet. Bumann eröffnete vor dem Volke das Schreiben.

„Der Minister des Auswärtigen an die helvetischen Herrn Repräsentanten in Lugano. Mailand, 27. Pluviose, Jahr 6.“

Meine Herrn!

„Das Vollziehungsdirektorium, dem ich heute eure bald nach einander empfangnen Briefe vom 14. und 15. Hornung mitgetheilt, war sehr ob den unangenehmen Nachrichten befremdet.“

„Das Vollziehungsdirektorium läßt euch, meine Herrn, durch mich versichern, daß ihm alles in Lugano Vorgefallene unbekannt war, und nicht die mindeste Wissenschaft von jener Zusammenrottung der Cisalpiner hatte, die sich erfrechten, durch einen ruchlosen Einfall das Land einer mit unserm Freistaat in freundschaftlichem Verhältniß stehenden Macht feindselig zu betreten, mit welcher das Direktorium das aufrichtige Wohlvernehmen ferner beizubehalten entschlossen ist.“

„Die cisalpinische Regierung wird, beim Ausbruch einiger Unruhen in den Gränzstaaten, sich mit Dekkung der eignen Gränzen, ohne Mischung in fremde Angelegenheiten, begnügen. Dies Benehmen wird sie beständig beobachten. Das in Lugano Vorgefallene beleidigt ihre Grundsätze so sehr, daß das Direktorium mir aufträgt, Sie, meine Herrn Repräsentanten, zu ersuchen, uns Namen und Beschreibung jener Cisalpiner mitzutheilen, welche, ihren schändlichen Anfall zu beschönigen, sich frecher Weise auf einen Befehl der hiesigen Regierung berufen haben. Unterdessen wird das Direktorium unverzüglich an den Gränzen die zwekmässigsten Anstalten treffen, um allen Ernstes zu verhindern, daß keine bewaffnete Macht die Gränzen der Republik überschreite, und nöthige Kundschaften über jenen Vorfall einzuziehn, damit die entdekten Schuldigen beispielmässig bestraft werden.“

„Ich habe das Vergnügen, euch durch euern lezten Boten diese Antwort zu übermachen, die euch von den aufrichtigen Gesinnungen hiesiger Regierung gegen die eure überzeugen, und in Stand setzen wird, sie euern hohen Committenten mitzutheilen.“

„Testi.“

Als dies Schreiben gelesen und abschriftlich mitgetheilt war, glich der Freude des Volks nur dessen Zorn gegen die Cisalpinischen und die Urheber des stürmischen Tags. Das laute Geschrei verlangte Auslieferung des fränkischen Offiziers und des cisalpinischen, Namens Pelasio. Lezterer hatte an der Spitze des gestrigen Ueberfalls gestanden. Bumann, um diese der Wuth des Volks zu entreissen, bedeutete den rasenden Haufen, daß Mishandlung eines fränkischen Offiziers, der an den gestrigen Feindseligkeiten theillos war, das Land in Krieg und Unglük verwikkeln könne. Mühsam willigte das Volk ein, den Franken loszulassen. Er wurde von einer Wacht zum Schiff geführt. — Nun aber auch den Pelasio vom Tode zu retten, schlug der Eidsgenoß dessen einstweilige Verhaftung im Quartier der Repräsentanten vor.

Bumann fand es der Würde schweizerischer Nation unanständig, länger in einem Lande zu verweilen, in welchem das Recht der regierenden Stände zertreten, sein Charakter verachtet war. Seine Gegenwart konnte nur die Schmach der fallenden Eidsgenossenschaft vergrössern, nie mildern. Er reisete also ab. Noch ehe er aber den

Monte Cenere überstiegen hatte, war das ganze Land zwischen diesem und der Lombardei schon frei.

Schon am 15. Hornung hatte das Volk Mendrisios nach dem Beispiel Luganos den helvetischen Freiheitsbaum erhöht, und am 20. unter freiem Himmel geschworen, schweizerisch zu seyn, und die katholische Religion zu behaupten. Die höchste Gewalt war einem vorläufigen Regierungs-Ausschuß anvertraut, welcher mit Cisalpinien und den kleinen Freistaaten unterhandeln sollte, die in den Gebirgen aus den ehmahligen Schweizer-Landvogteien disseits des Gotthards zu entstehen anfiengen. Denn jede Landvogtei bildete nun eine eigne Republik, ohne wesentliche Verbindung mit der Nachbarschaft. — Auch war es weder die Neigung des Volks noch der Führer, unselbstständig nur als verschwindende Theile in ein grosses einziges Reich einzutreten. Der Hang zum Föderalismus ist den Völkerschaften der Alpen gleichsam erblich mit ihren Gebirgen, von denen sie unter einander getrennt sind. Nur stolz auf ihre Heimath, verlangen sie in andern Geländen weder Vaterlandsrecht noch Mitregierung, sondern

nur Bundsgenossenschaft. Dürftig an Begriffen, verlieren sie ihr Selbst in jedem grössern Kreise, der nicht dem engen Kreis ihrer Vorstellungen angemessen ist. Die meisten Völkerschaften Helvetiens ergriffen daher grade, da die Revolution zur Zerstöhrung des Bundes- und Eidsgenossenwesens begann, diese Revolution, um sich von einander unabhängig in weit kleinere Bundesstaaten, als vorher, zu verwandeln. Kein Wunder, da sie sich am Ende der allgemeinen Staatsumwälzung entfernter, als je, von dem Ziele sahn, nach dem sie geeilt hatten, daß ihrer die wenigsten ohne Mismuth gegen die Revolution blieben.

In Mendrisio waren, wie in den andern welschen Vogteien, zu jener Zeit die Gemüther getrennt zwischen Cisalpinien und Helvetien. Am 22. Hornung erschienen vor dem Regierungs-Ausschuß drei junge Männer, Joh. Baptista Quadri (von Lugano,) Feliciano Pasta (von Mendrisio,) und Biondi (von Blenio,) als Abgeordnete der Patrioten (oder der cisalpinischen Parthei) welche nach dem unglüklichen Angriff auf Lugano mit ihrer Mannschaft sich am Seeufer zu Compione niedergelassen hatten.

Sie verlangten, daß Mendrisio an das cisalpinische Direktorium sende, Einverleibung in Bonapartes neugeschaffne Republik zu erbitten. „Verbunden seyd ihr schon mit derselben," sagten sie: „durch Sprache, Boden und Intresse. Getrennt seyd ihr von Helvetien auf ewig durch die rauhen, fast unübersteiglichen Gebirge, auf ewig durch die kaum vernarbten Wunden, so euch von den schweizerischen Proconsuln schändlicherweise geschlagen worden sind; auf ewig durch Intresse, Sitten, Gesetze, Religion und Zunge. —" Ihren Vortrag theilten sie dem Ausschusse schriftlich mit.*) „Erinnert euch," hies es am Schluß desselben: „daß ihr Brod empfanget von Cisalpinien, da ihr von Helvetien nichts zu erwarten habt, als — Steine!"

Der Ausschuß erwiederte, daß nur das versammelte Volk über diesen Gegenstand absprechen könne, welches binnen drei Tagen geschehen werde. Die Patrioten ahndeten, daß ihre Hoffnungen hier, wie in Lugano, vereitelt werden

*) Li deputati dei patriotti dei Palliaggi italiani al comitato politico del sovrano popolo di mendrisio. (Im Archiv von Mendris.)

würden. Sie eilten zurük zu ihren rüstigen Waffenbrüdern mit der Antwort, und erschienen in wenigen Stunden wieder mit ihren Angeworbnen, unter fliegenden Fahnen und schlagender Trommel. Sie zogen auf den Plaz, umringten den Freiheitsbaum. Einer der ihrigen, Namens Carabelli, kletterte hinauf, hob den Schweizerhut hinweg, und sezte die lombardische Kappe hin. Der Schwarm der Cisalpinischen nahm den Hut, zertrat ihn mit Füssen, und warf ihn, nachdem jeder daran seinen Muthwillen geübt, in den nahen Bach, während cisalpinische Cocarden und Mützen in Menge vertheilt und Proklamationen zur Vereinigung mit Mailand angeschlagen wurden.

Aber am folgenden Tag tönte Sturmgeläute durchs Land. *) Die Gemeinden Stabio, Ligornetto und Genestre vereinten sich bewaffnet, um die Beschimpfungen der helvetischen Zeichen zu rächen, und die Lombarden zu verjagen. Sie zogen auf Mendrisio. Es kam zum Schlagen. Aber ein heimtükkisches Feuer, von Dächern und Fenstern auf sie gerichtet, zwang sie zum Rükzug mit Hinterlassung ihrer Verwundeten

*) 23. Hornung.

und Todten. Die cisalpinischen Banden, im Genuß des Triumpfes, brandschazten als Sieger das Land. Der Ausschuß, um die Gemeinden vor diesen gewaltthätigen Erpressungen zu schirmen, ohne Hülfe von Helvetien, in Furcht vor Cisalpinien und Frankreich, bequemte sich endlich dazu, das Volk zur Vereinigung mit Mailand zu bewegen. Es eilten Abgeordnete zur Hauptstadt der Republik Bonapartens, sowohl um die Vereinigung, als um Schuz gegen die Bedrükkungen der sogenannten Patrioten zu erflehen.

Der Erfolg dieser Verwendung war die Sendung cisalpinischer Truppen nach Mendrisio. Aber ehe sie erschienen, waren die bewaffneten Luganeser-Schaaren gegen den Haufen der Cisalpinischen vorgerükt. Beim Dorfe Cavali wurden diese geschlagen, und über Mendrisio hinaus verfolgt. Die Luganesen rükten in den Flekken ein, schafften den cisalpinischen Freiheitsbaum hinweg und warfen einige der vornehmsten Faktionsmänner in die Gefängnisse. In demselben Augenblik *) trafen die mailändischen Truppen zu Mendrisio ein. Die Luganesen zogen sich in ihr Gebiet zu-

*) Abends, 4. Merz.

rük, nach einer Unterredung mit dem lombardischen Kommendanten. Der cisalpinische Baum ward neuerdings erhöht, *) und jeder der Eingekerkerten losgelassen.

Nur die Luganeser rasteten nicht. Durch ihre Klagen bewogen, sandte der Oberfeldherr Berthier einen seiner Generale **) auf Lugano, die Stimmung des Volks zu erforschen. Als Berthier nachmahls durch den Oberfeldherr Brüne in Italien ersezt ward, wandte Lugano sich auch an diesen, schilderte ihm die Leiden der Gemeinden und den Schmerz derselben, vom Herzen der helvetischen Republik, ihrer Mutter losgerissen zu werden. Brüne, von diesen Vorstellungen bewegt, befahl, die Gemeinden des Landes zu versammeln, und frei über die Vereinigung mit Cisalpinien oder Helvetien abzustimmen. Da war das Schikfal der welschen Vogteien entschieden. Mit einem Herzen und einem Ton rief alles um Helvetien. Und die cisalpinischen Truppen zogen aus dem Lande.

---

*) 6. Merz.

**) General Chevalier.

6.

Unterdessen war in der Heimath der Eidsgenossen selbst überall und binnen wenigen Tagen Verwirrung und Zwietracht zur Herrschaft gekommen. Schon hatte das Waatland den Entwurf der neuen Konstitution angenommen, *) schon hatten die Gemeinden im Toggenburg, im Thurgäu, und die von Schafhausen, vom Rheinthal, in Werdenberg und Sargans ihre Stimmen in den allgemeinen Ruf um Freiheit und Unabhängigkeit gemischt; schon hatten die Regierungen von Luzern und Zürich, von Schafhausen und Bern und Solothurn dem ungestümmen Drange des Zeitgeistes gewichen, die Rechte der Menschheit, die Souverainität des Volks anerkannt, und sich nur bis zur Anstellung neuer Regierung und Ordnung für einstweilige erklärt. Die Schrekken der grossen Wiedergeburt Helvetiens traten herein. Das Alte stürzte zusammen, und vor den Trümmern der Eidsgenossenschaft erschien ein fränkisches Heer, mit Bern zu rechten.

Die Geschäftsführer der Waldkantonen erkannten jezt erst die Unvermeidlichkeit der grossen Ver-

*) Den 15. Februar.

änderung und der Freilassung aller Unterthanen. Stärke zu gewinnen, mußten sie in Brüder die Untergebenen verwandeln; und auf den Altar öffentlicher Wohlfahrt das als freiwilliges Opfer legen, dessen Verlust ohnedem unabkäuflich war.

Es geschah. Das Volk von Schwyz ahnete nur dunkel die Gefahren. Es versammelte sich zur Landsgemeinde am 18. Februar, und hörte das Verlangen der „Unmittelbar-Angehörigen.“ *) Es bedurfte keiner Kunst der Ueberredung; unter einem frohen Jubelgeschrei erhoben 4000 freie Landleute ihre Hand, 3000 Angehörigen gleiche Rechte zu ertheilen. **) Jeder war gerührt und glüklich. Auch dem bittenden Gaster und Uznach wurde Hoffnung zu Theil. Ein Ausschuß empfieng den Auftrag, mit Glarus und jenen zwei Landschaften über Freilassung und Auslösung des alten Pfandbriefes zu unterhandeln. — Nur die March wurde mit kaltem Stillschweigen übergangen.

*) Die Einwohner der Höfe, die Angehörigen des Stifts Einsiedlen, und die Insassen des Kantons.

**) Am folgenden Tage wurde die Freiheitsurkunde ausgestellt, als am 19. Hornung. Eben so wurde die Geschichte des 18. Hornungs brieflich den übrigen Eidsgenossen kund gethan.

Ein Trauerbote von Uri kam und störte die Heiterkeit des Festes. Auch die Landvogtei Bellinzona war vom Geist des Aufruhrs und der Befreiungslust ergriffen worden. Bizener, der Landvogt, stand in grosser Gefahr. Fremdes Volk war, wiederholten Berichten zufolge, in Bellenz und die dortigen Gegenden eingefallen. Diese, besonders für Uri, bedenklichen Ereignisse hatten das Volk dieses Kantons sehr erschüttert. Es wollte, um sich selbst zu dekken, seine gen Bern gesandte Mannschaft wieder zurükziehen — es theilte den Schwyzern Klagen und Sorgen mit.

Schwyz war in Bestürzung. Es entstand ein Augenblik des Schweigens, oder stiller Berathung. Bald offenbarte sich im ganzen Volk die allgemeinste lebendigste Theilnahme am Schikfal seiner ältesten Bundesgenossen, so wie an dem der gesammten Eidsgenossenschaft. Man beschloß, Uri zu bitten, seine Truppen nicht von Bern abzurufen, um übeln Eindruk zu vermeiden, welchen dies auf alle übrige, Bern zugezogne, eidsgenössische Hülfsvölker machen könne; statt dessen wolle

Schwyz

Schwyz den Mangel jener Mannschaft durch sein zweites Bataillon der für Bern Aufgebotenen ersetzen, und ihm den Obristl. Aloys ab Iberg, als Standsrepräsentanten, zugesellen.

Mit diesem Entschlusse wurde der Trauerbote von Uri heimgesandt, einem Entschlusse, so edel als klug. Es ist freilich nicht die reinste Tugend, welche aus den Quellen der Politik rinnt; aber es ist doch die beste Politik, welche mit der Moralität gleiche Strassen wandelt. Bern erkannte diese Wahrheit zu spät, erst als ihrer Verachtung die Reue folgte.

---

## 7.

Das Waatland lief unaufhaltsam in der Revolutionsbahn fort. Die neue Konstitution war bereits eingeführt; die Güter der Berner wurden in Beschlag genommen, und die Gemeinden des welschen Freiburg rüsteten sich, dem Beispiel zu folgen.

Freiburg, die regierende Stadt, unfähig, dem wüthenden Waldstrome der Revolution kraft-

voll entgegen zu bauen, sonder Vertheidigungsmittel, und von einem nur zwei Stunden entfernten Frankenheer bedrohet, sah nach Hülfe. Von Bern wurden ihr aus der Mitte des Kriegraths zwei Männer gesandt, Statthalter Wyß von Zürich und Müller von Uri, eidsgenössischen Rath zu ertheilen.

Noch immer mangelte den Kantonen Einheit der Kraft und des Willens. Jeglicher folgte nur gezwungen, wohin er, sich zu retten, freiwillig voraus eilen sollte; jeglicher berechnete nur den eignen Vortheil und handelte ihm gemäß, in dem Plane des Ganzen.

Die Angehörigen der Vogteien von Baden und der obern und untern freien Aemter äusserten den Oberherrn ihre treuen Gesinnungen, und sie wurden aufgefodert, zur Vertheidigung des gemeinsamen Vaterlandes die Waffen zu erheben. Auch Sargans, welches den Wink zur Freiheit benuzte, rührte sich, und wünschte, als freier Stand der acht alten Orte Bundesgenoß zu werden, und mit seinen Kriegern dann freudig ins Schlachtfeld für's Vaterland zu gehen.

Nun war in ganz Helvetia kein Ort mehr, der nicht zum Kampfe für oder wider in Waffen gestanden, oder aufgemahnt wäre, oder der Hülfe bedürfte, ausser Wallis. Schwyz bezeugte dem Stand Bern seine Verwunderung, daß während des allgemeinen Getümmels dieser zur Unterstützung der Eidsgenossenschaft so wichtige Freistaat schier vernachlässigt worden sey. *)

Die Gefahr war ihrem Gipfel nahe. Die Regierer von Bern, obgleich sie die wilde Zerrüttung der Eidsgenossenschaft erblikten, fuhren dennoch mit unglaublicher Hartnäkkigkeit fort, ihr stolzes, gewagtes Spiel zu treiben. Mit den Waffen der Intrigue hofften sie ihre Gewaltshaberei zu dekken.

Luzern, welches seiner Hochheitsrechte sich freiwillig begeben, sprach noch einmal zu Bern das Wort der Warnung, um den Frieden der Schweiz zu retten. Die provisorische Regierung dieses Kantons zeigte sogleich denen der Waldstätte an: daß ihre Hülfstruppen kei-

*) 26. Februar.

neswegs bestimmt wären für mittelbare oder unmittelbare Beibehaltung irgend einer aristokratischen Regimentsform einen bewaffneten fremden Angriff abzutreiben; aber wohl wäre sie, wie ihr ganzes Volk, entschlossen, für die Integrität des gemeinsamen Vaterlandes, für Freiheit und Unabhängigkeit alle Kräfte aufzubieten, und dafür weder Gut noch Blut zu schonen. Sie hätten daher ihrem Obristen Befehl ertheilt, so lange mit seinem Regimente zu Langenthal und den übrigen Standpunkten zu verbleiben, bis man vernommen habe, unter welchen Bedingungen die Schweiz den Frieden mit der fränkischen Republik beibehalten könne.

Luzern drükte in eben diesem Schreiben seine Gesinnungen gegen den Kanton Schwyz sehr zweifellos aus: „es sey überzeugt, daß das gesammte schweizerische Volk nur dann für die Vertheidigung der bedrohten Stände mit wahrer Einmüthigkeit gegen das Ausland stehen würde, wenn demselben in allen aristokratischen Ständen durch unverzügliche Errichtung der Volksregierung unzweideutig dargethan wäre, daß dasselbe nicht mehr weder für verhüllte noch unver-

hüllte Aristokratie, sondern für Freiheit, Vaterland, Sicherheit der Person und des Eigenthums streite.“

„Beim Heil des Vaterlandes,“ fuhr Luzern zu den Schwyzern fort: „beschwören wir euch, eine der unsrigen ähnliche Erklärung an jene Stände zu thun, wo es nöthig seyn möchte, damit endlich das bewirkt werden könne, was die Noth fodert, und wodurch aller scheinbare Vorwand zu fremden Angriffen wegfalle. Denn so lang dies nicht geschieht, bleiben Volk und Regierung in Gesinnungen und Interesse getrennt, und das Vaterland würde von innerer Zwietracht und äusserm Krieg' unfehlbar zerrüttet werden.“

Es war vergebens. Berns Beherrscher blieben sich gleich. General Erlach erhielt unumschränkte Vollmacht, wenn die fränkischen Truppen nach Verlauf abgeschlossenen Waffenstillstandes (bis 2. Merz) nicht aus der Waat und dem Erguel zurükgezogen seyn würden, angriffsweise zu verfahren. Auch Frisching und Tscharner, zu neuen Unterhandlungen mit Brüne, fränkischem General, bevollmächtigt, (27. Hornung,) mußten die Räumung jener Lande, als Bedin-

gung ohne anders, ihren Verhandlungen voranstellen.

So der Rath von Bern. Verschiedene Repräsentanten der Eidsgenossenschaft fanden sich gekränkt, daß Bern den für Helvetiens kommendes Schikfal so wichtigen Schluß gefaßt, ohne im mindesten ihr Gutbefinden darüber einzuziehen.

Es ist aber bekannt, wie fruchtlos jene Unterhandlungen zu Peterlingen zwischen dem Franken-General Brüne und den Deputirten Berns endeten. Die Feindseligkeiten begannen. Solothurn und Freiburg fielen in die Gewalt der Franken; Schauenburg, Befehlshaber der Sieger bei Solothurn, rükte gegen Bern.

Die Verwirrung unter den Schweizertruppen war so groß, daß sie schon Geschlagenen glichen, ehe sie schlugen. Die Anführer waren ohne übereinstimmende Befehle; die Truppen durch Meinungen getrennt; niemand wußte wohin? und warum?

Wir aber wollen uns damit begnügen, die Erzählung eines Augenzeugen treulich mitzutheilen, welcher diesen kurzen Feldzug unter den

Hülfstruppen des Standes Schwyz machte. Durch die Sammlung einzelner solcher Züge können wir von der herrschenden Unordnung der Berner und den von andern Kantonen zur Hülfe ausgezogenen Kriegsvölker ein Bild zusammensetzen.

---

8.

Also lautet der Bericht des Augenzeugen:

„Am zweiten Merz wurde unser Kommendant Aloys Reding vom Obrist Grafenried aufgefodert, mit seiner ganzen Mannschaft gen Oberweil bei Büren zu eilen, wo wir auch die Hülfsvölker von Uri und Glarus antreffen sollten. Nach einer halben Stunde traten wir den Marsch an. Unterwegs begegneten uns nicht nur verschiedene Bagage- und Munitionswagen, die sich zurük zogen, sondern auch eine grosse Menge wildherumstreifender Flüchtlinge aus dem Bernerheer, die gegen ihre Offiziers sehr aufgebracht waren, fürchterliche Flüche ausstiessen, und nur darin übereinstimmten, daß alles verrathen und verkauft sey. Umsonst bemühten sich unsere Offiziers, solche zu bereden, wiedrum mit uns gegen Oberweil vorzurükken.“

„Wir kamen gegen Nacht in Oberweil an. Die meisten Einwohner waren mit ihrem Geräthe schon geflüchtet. Die Zurükgebliebenen gaben uns zu verstehen, wir sollten weiter ziehen, denn sie würden sich nicht gegen die Franken wehren.“

„Unterdessen kam der Aide de Camp Auf der Maur, welchen unser Kommendant nach Büren geschikt hatte, um Verhaltungsbefehle zu begehren, mit dem Bericht zurük, Grafenried habe für jezt keine bestimmtere Befehle mitzutheilen; würde sich etwas neues ereignen, so sollten wir sogleich davon berichtet werden. Auf der Maur erzählte zugleich, daß er überall grosse Unordnung und die fast gänzliche Zerstreuung der Bernerarmee gesehen, von dem Hülfsvolk aber von Glarus und Uri keine Spur entdekt habe.“

„Diese Nachrichten stürzten den frohen Geist unsers Volks nieder. Ein dumpfes Murmeln durchlief die zusammentretenden Haufen. Man umringte die Offiziers; man rief: laßt uns umkehren! wer mag Theil nehmen an der Vertheidigung eines Landes, dessen Einwohner sich selbst bekriegen, oder zur Gegenwehr unentschlossen,

oder mistrauisch wider die Befehlshaber sind? So sprach unser Volk.“

„Die düstere Stimmung vermehrte sich. Wir standen einsam. Die Auszüge von Glarus und Uri waren nicht zu erforschen. Wir waren ohne Verbindung, ohne Verhaltungsbefehle. Unsere Hauptleute traten zusammen. Sie erwogen den Befehl unsrer Landsgemeinde, im Fall die Berner uneinig oder zur Gegenwehr unentschlossen seyn würden, das Volk zurükzuführen. Und wir giengen nach Buchsee zurük noch in derselben Nacht.“

— — In eben dieser Zeit hatte Luzern beschlossen, seine Truppen wirklich gegen die Franken vorrükken zu lassen. Die durch Eilboten überbrachte Nachricht von Brüne's strengen Foderungen, und den schon an vielen Orten begangenen Feindseligkeiten hatte die Volksrepräsentanten zu Luzern in Bewegung gesezt. Sie empfanden die Noth eines festen Entschlusses in diesem Augenblikke. So sehr sie auch Berns hartnäkkigen Stolz tadelten, der sich der Wohlfahrt des Vaterlandes nicht opfern wollte, glaubten sie doch, der Schweizerehre willen, und ihres Bundes Pflich-

ten gemäs, dem Stande Bern beispringen zu müssen, ohne seine Schuld oder seine Unschuld lange zu untersuchen. —

Sie befahlen dem Obrist Mohr, welcher mit den Luzernertruppen bei Langenthal stand, diese sogleich vorrükken zu lassen, wo es die Noth der bedrohten Bundesbrüder und des ganzen Vaterlandes irgend heischen könne. „Sie wären übrigens in der sichern Ueberzeugung, daß die Luzernertruppen, nach dem rühmlichen Beispiel ihrer Väter und der Stifter ihrer Freiheit sich betragen, und für's Vaterland siegen oder sterben würden.“

Kaum war aber dies Schreiben, welches auch den Soldaten vorgelesen werden sollte, abgegangen, als ein Brief des Obrist Mohr erschien, welcher den Schleier von der traurigen Lage der Dinge weghob. „Die Verwirrung ist am größten,“ lautet es im Briefe: *) „Alles flüchtet. Wir liegen in St. Urban, Pfaffnau, Rotwyl, Altbüren, Großdietwyl. An uns haben sich die Unter- und die Obwaldner und Zuger ange-

*) St. Urban, 2. Merz.

schlossen; und eben jezt sind noch 300 Berner, die seit 2 Uhr Morgens im Feuer gestanden, angelangt, welchen wir wegen ihrer Mattigkeit in den umliegenden Scheuren Plaz geben müssen. Wir halten ausserordentliche Patrouillen, weil wir nicht wissen, was sich diese Nacht ereignen dürfte. Ich bitte um die schleunigste Ordre, um zu wissen, wie wir uns zu verhalten haben."

Die Regierung von Luzern wiederholte standhaft den schon gegebenen Befehl; und fügte hinzu, daß wenn die Bernertruppen auch gänzlich zerstreut seyn sollten, man unverzüglich die Hülfsvölker der eidsgenössischen Stände zusammenziehn, und eine neue Vertheidigungslinie bilden sollte, an welche sich der schon bereit gehaltene Landsturm schliessen werde. Inzwischen wolle man alle Stände der Schweiz zu neuen Truppensendungen aufbieten.

Wir setzen jezt die unterbrochene Erzählung des Augenzeugen beim schweizerischen Hülfscorps fort, welche uns vom Zustand der Dinge ein so anschauliches Gemälde liefert.

„Als nun unsere Truppen in Buchsee angekommen waren, erschien wenige Stunden nachher auch der Berner General Erlach, mit dem Staab seiner Armee, und verschiedenen Resten von bernischen Bataillons, weil sie von der Regierung den Befehl erhalten hatten, ihre erste Linie zu verlassen. Wir waren froh, endlich wieder Soldaten zu sehen und entschlossen, mit ihnen zu kämpfen. Es war des Mittags, (3. Merz,) als plözlich der Ruf zu den Waffen ergieng. Schon standen dem Gerücht nach die Franken bei Schüpfen, eine Stunde nur von uns. Aloys Reding, unser Kommendant, hatte sich schon einmal zum General Erlach begeben, aber ihn, von Strapatzen ermüdet, schlafend gefunden. Er verlangte nun Verhaltungsbefehle vom Obrist Grafenried, welcher ihm aber antwortete: „Ich kann Ihnen keine geben, da ich selbst noch nicht weiß, was ich zu thun habe. Was denken Sie aber zu thun?“ — „Ich vereine mich mit den Urnern und Glarnern, so in Bern liegen!“ antwortete Reding.“

„Wirklich zogen wir nach Bern. Rechts und links der Strasse sahen wir alles von Berner-

flüchtlingen wimmelnd, die von verschiedenen Orten her ihrer Heimath wieder zueilten. Bei der Papiermühle zog sich der Kommendant links auf Worb, und berichtete unsern Kriegsräthen in Bern, daß er seinen Sinn geändert, und nicht mit den Truppen in die Stadt einrükken wolle, weil Bern nicht im Vertheidigungsstand sey. Er wünschte hingegen, daß sich die Urner und Glarner mit uns verbänden bei Worb.“

„Unsere Kriegs-Räthe kamen in der Nacht zu uns. Sie hiessen den Entschluß des Kommendanten gut. Am folgenden Morgen *) begab sich Reding nach Bern, um mit den Urnern und Glarnern Raths zu pflegen. Die Anführer derselben kamen gerade vom Rathhause, wo sie von der Regierung schon, in einer gründlichen Note, um freien Abzug aus der Stadt angehalten hatten. Aloys Reding stimmte nicht nur dieser Note bei, sondern er eilte selbst mit dem Kriegs-Rath Müller (von Uri) auf das Rathhaus, und stellte der Regierung hier mit wenigen aber treffenden Worten den verworrenen Zustand des Ganzen dar. „Unordnung lähmt alles!“ sagte er: „des Vol-

*) 4. Merz.

kes Uneinigkeit, das allgemeine Mistrauen gegen die Obrigkeiten im Civil- und Kriegswesen, die Aeusserungen der Flüchtlinge, die ich gestern in grossen Schaaren auf den Strassen verstreut fand, und die Ueberzeugung, daß es bei einem solchen Wirrwarr von Meinungen und Begriffen unmöglich sey, den anrükkenden Feind abzutreiben, hat auch auf unsere Truppen Eindruk gemacht, daß wir mit Mühe nur einen Aufstand verhinderten. Diese Gesinnungen werden bald auch unter andern Hülfstruppen erscheinen. Und, wie kömmts, daß auch die Zuzüge von drei andern Ständen in diesen Tagen der Gefahr ferne stehn an den Luzerner Gränzen? —— Da ich also von meinem Stand befehligt bin, unter solchen Verhältnissen nicht umsonst unser Volk aufzuopfern; so ists nothwendig, den Rükzug auf Worb zu nehmen, wo sich die Urner, Glarner und St. Galler mit uns vereinigen werden.“

„Wirklich zogen diese wenige Stunden nachher aus den Thoren von Bern gen Worb. Am folgenden Morgen um 4 Uhr überbrachte uns ein Berner Offizier von seiner Regierung die Auffoderung, gegen das Grauenholz zu eilen. Die

Kriegs-Räthe und Befehlshaber der Truppen von Uri, Schwyz, Glarus und St. Gallen traten zusammen. Man pflog Raths und beschloß, nicht dahin zu gehen. Denn wir kannten nicht des Feindes und nicht der Berner Stellung; wir wußten aber, daß die Franken von jener Gegend überall in grossen Schaaren vordrängen ohne bedeutenden Widerstand, und daß, dem Gerücht zufolge, Bern sich schon zu Uebergabe rüste."

„Wir säumten nicht länger, und traten unsern Rükzug an, unsrer Heimath zu. Nach zwei Stunden sprengten einige von uns zurükgelassene Offiziers heran. Sie brachten die Nachricht vom Siege der Berner unter Grafenried bei Neuenegg. Die Regierung von Bern beschwor uns aufs neue zu verbleiben. Als diese Botschaft dem Volk kund gemacht ward, erhob sich das Jubelgeschrei desselben zu den Wolken. Wir gelobten, uns bis auf den lezten Mann zu wehren, wenn noch einige Hoffnung zur Rettung Berns, und zum Widerstand sey."

„In fünf viertel Stunden waren wir in Worb zurük. Kaum traten wir hinein, als all unsre Hoffnungen mit einem Schlage vernichtet

wurden. Bern war schon in die Gewalt der Franken gefallen; uns blieb keine andere Wahl übrig, als Worb abermahls zu verlassen, und die Rükreise anzutreten. Es geschah."

---

9.

In den Waldstätten aber ahndete man das Schikſal Berns nicht. Wohl drangen mancherlei dumpfe Gerüchte von verlornen Treffen in diese Bergthäler; das Volk verlor den Muth nicht. Es sammelte sich in Uri und Unterwalden zu den Landsgemeinden; es bot die benachbarten Stände zu ungesäumter Hülfe für Bern auf, und schikte sich selbst zu kraftvoller Unterstützung.

Schwyz that desgleichen (4. Merz.) 150 Mann unter dem Hauptmann Hediger, und das zweite Bataillon, unter den Befehlen von Aloys Gwerder sollten gen Luzern ziehen, und sich gebrauchen lassen, wo es die Noth erheiſche. Ein Landsturm solle sich rüſten. Alle Fremdlinge, so nicht mitziehen wollen, wurden des Landes verwieſen. Wer verdächtige Reden ausſtreute, sonder Beweis,

sollte,

sollte, wie jene, die wider Vaterlands Wohl oder Ruhe reden, malafiziſch geſtraft werden. Die Weiland-Angehörigen, beſonders die Einwohner der Landſchaft March, wurden von derſelben Schwyzer-Landsgemeinde durch Eilboten angefragt: ob ſie bei der allgemeinen drohenden Gefahr ſich an die Waldſtätte anſchlieſſen wollen oder nicht? Den Kriegs-Räthen, welche man noch in Bern glaubte, wurde befohlen, allen Städten und Oertern kund zu machen, daß man jegliche Gegend feindſelig behandeln werde, welche den Franken irgend hold wäre.

So die Landsgemeinde von Schwyz. Furcht, Hoffnung, Zorn und Stolz, und alle Leidenſchaften, welche wie ein Sturm den politiſchen Gewittern voraneilen, und verwegene Entſchlüſſe und Thaten vorbereiten, tobten nun in allen Gemüthern. Das längſt Erwartete ſchien noch immer unerwartet. Durch alle Thäler verbreitete ſich wilde Regſamkeit. Die verworrenſten Gerüchte, gehäſſige Verläumdung einzelner Männer und ganzer Gegenden trieben jezt ihr freies Spiel.

Eine Schrekkensbotſchaft folgte der andern auf

dem Fuß nach. Es erschien der Bericht: Freiburg und Solothurn wanken schon! — Luzern meldete: „Der Feind hat schon Hutwyl und Aarwangen angegriffen; darum eilet unser Landsturm dahin über Hutwyl und St. Urban. Machet euch auf; denn nur durch Schnelligkeit und grosse Massen kann der Feind zurükgeworfen werden!“

Uri, Unterwalden, Zug und Schwyz säumeten nicht. Sie beschlossen, die schleunigste Hülfe zu senden. Uri foderte Schwyz an dem gleichen Tage auf, noch einmal die widerspenstigen Bewohner der March gütlich zu ihren Pflichten anzumahnen; im Fall dieselben aber ihren raschen Schritt nicht durch baldige Rükkehr ausbessern wollten: so wäre der Stand Uri bereit, die Landsleute von Schwyz bundsbrüderlich mit den Waffen zu unterstützen.

Die Landschaften Thurgäu und Rheinthal hatten inzwischen dringender, während der steigenden Gefahren, ihre Freiheit gefodert. Schlau zögerten die eidsgenössischen Gesandten zu Arau in der Willfahrung. Noch immer hofften sie, daß das Glük den Waffen der Oligar-

chie hold seyn werde. Als sie aber alles verloren sahen, widerstanden sie nicht länger, und nahmen als Brüder in den helvetischen Bund die ehmaligen Unterthanen.

Mit gleicher Ungeduld harrten die Einwohner der Landschaft Gaster der Stunde ihrer Befreiung. Dort sassen die Abgeordneten der herrschenden Stände, und die Ausschüsse, um die alten Rechte auseinander zu sondern, und über die neuen Freiheiten zu handeln. Aber die Bewohner vom Gaster argwöhnten Hinterlist in diesem langsamen Gange. Die Vollmachten und Aufträge der Abgeordneten schienen ihren eignen Wünschen zu eng. Sie versammelten sich in grossen Schaaren; mit Gewalt wollten sie die Erfüllung ihrer Wünsche nun erstürmen. Sie drangen um die Mittagsstunde, (5. Merz,) mit Knütteln bewaffnet, in das Stiftsgebäu von Schännis, wo die Abgeordneten mit den Stiftsfrauen speiseten. Vom Schrekken übermannt, ertheilten die Gesandten von Schwyz und Glarus, mit Vorbehalt der Genehmigung dieser beiden Stände, den Stürmenden die gänzliche Freiheit, und das

Versprechen, ihnen den alten Pfandbrief auszuliefern.

Der Landrath von Schwyz gehorchte nun dem eisernen Gesez der Noth. Die Unabhängigkeit der Landschaft Gaster, Uznach und Wesen wurden feierlich von ihm anerkannt, *) und die Auslösung des Pfandbriefes gestattet, doch unter den Bedingungen, „daß die Befreiten bei ihrer alten Religion bleiben, das Eigenthum des Stifts respektiren sollten, und daß, im Fall eines Auszuges, kein Theil den andern mit Kosten beladen, noch einer den andern mit Zöllen und Weggeldern beschweren müsse“

Jezt erscholl nun in den Gebirgen der Waldstätte die erschütternde Nachricht vom Falle Berns. Es war am 6. Merz. — Die Gefahr rükte unaufhaltsam näher. Nidwalden zweifelte, ob man die Truppen, gegen Bern zur Hülfe gesandt, um Vertheidigung des eignen Heerdes heimrufen, oder sie andern vorliegenden Stände überlassen sollte? — Schwyz entschied für das leztere. Denn Luzern hatte seine Klagen vor den

*) 6. Merz.

Waldstätten geführt. „Ungewiß, ob die Franken auch unsere Gränzen feindlich berühren werden,“ sprach Luzern: „haben wir einmüthig beschlossen, und wirklich Anstalten getroffen, mittelst des Landsturmes unser Land zu vertheidigen. Wir ersuchen euch daher, euere Hülfstruppen (die jezt auf Luzerner Boden standen,) einstweilen, bis die Gefahr vorüber ist, zum Schirm der Gränzen und zur Bildung neuer Vertheidigungslinien zurük zu lassen.“ Der Landrath von Schwyz glaubte mehr noch thun zu müssen. Er ertheilte Befehl den zwei Bataillonen, so aufs neue für Bern ausgerüstet waren, Luzern zu Hülfe zu eilen. Er gesellte den Kriegern verschiedene Deputirte bei, welche sich um die Stimmung des Luzerner Volks erkunden, und erforschen sollten, ob dasselbe fest entschlossen sey, für die Vertheidigung seiner heimathlichen Gränzen zu siegen, oder zu sterben. Uri und Nitwalden hatten zu gleichem Zwek Abgeordnete und Truppen ausgesandt. Denn es war der Sinn der Waldstätte, nur dann mit ihren Nachbaren die Gefahren zu theilen, und bis in den Tod für sie zu streiten, wenn diese selbst von gleichem Muthe beseelt seyn würden.

Aber Obwalden konnte sein zweites Aufgebot

nicht den Luzernern senden, indem es für eigne Sicherheit wachen mußte. Schon waren, zuverlässigen Berichten gemäß, die Franken über Thun ausgebreitet. Obwalden, statt Hülfe zu senden, sprach nun selbst bundsgenössischen Beistand an.

Eben so wandte sich flehend die Regierung von Zürich, welche noch immer mit dem Volke des Landes um Recht und Freiheit haderte, an die Bewohner der Waldstätte. Zu Meila, am Zürchersee, hatte sich eine freie Nationalversammlung gebildet, im Angesicht der herrschenden Stadt. Meila gebot der Stadt mit der Sprache des Souverains. Die Regierer in Zürich foderten daher von den Waldstätten, „weil ein Bürgerkrieg nahe und fast unvermeidlich schiene, daß die Waldkantone nicht nur getreues Aufsehen halten, sondern auch Hülfstruppen an die Gränzen Zürichs senden sollten, um allenfalls nöthigen Beistand zu leisten, und daß sie in die Stadt selbst Repräsentanten schikken möchten, eidsgenössischen Rath zu ertheilen.“

Allen Wünschen der Gebirgsvölker zur Rettung ihrer Nachbarschaften gebrach die Kraft. Schwyz sogar fand es räthlicher, sich mit den ungestümmen Marchern, den ehmaligen Unterthanen, auszusöhnen, die noch einmahl in drohenden Worten um offene Erklärung der Freiheit ansprachen. *) Schwyz stellte wirklich der Landschaft March die Befreiungsurkunde aus, worin auf alle Rechte über Land und Leute für jezt und alle künftige Zeiten Verzicht gethan wird. **) Zwei Abgesandte mußten den Marchern den Brief der Freiheit überbringen; dabei hatten sie den Auftrag, „auf geziemende Weise zu trachten, dortige Landschaft zu einer Vereinigung mit dem Kanton Schwyz zu bewegen, auf daß durch die engen Bande der Freundschaft beiderseit'ges Wohl befördert werde."

Nimmer würden in Helvetien die unterthänigen Völkerschaften zur Freiheit eingegangen seyn,

*) 7. Merz.

**) 8. Merz.

hätten nicht so ausserordentliche Begebenheiten alle Verhältnisse gesprengt, alle Riegel zerbrochen. Ein wüthender Bürgerkrieg hätte endlich vielleicht den eidsgenössischen Herrscherbund zerstört, und Helvetien seinen Nachbarschaften zum Raube und zur Theilung hingeworfen; nie aber würden freiwillig die Regierer ihren Stuhl verlassen haben. Es war der Eidsgenossen gepriesene Freiheit nicht eine Sache der Herzen und Vernunft, sondern Werk der Geburt und des Zufalls; nicht ein heiliges Menschenrecht, sondern ein Vorzug und Adel und Stammbaum.

Indem nun die Gebirgsbewohner, enger an einander gedrängt, und mit ihren Unterthanen verbrüdert, zum nahen Kampf sich bereit hielten, empfiengen sie unverhofft die heitere Botschaft von Luzern, daß Frankreich friedlichen Sinn hege für die übrigen Kantone der Schweiz. General Brüne hatte den Abgeordneten Luzerns mündliche und schriftliche Versicherung gegeben, daß er kei-

nen Auftrag habe, über die Gränzen der eroberten Gebiete von Freiburg, Bern und Solothurn zu ziehen. Eben so hatte, im Namen des fränkischen Vollziehungs-Direktoriums, der Minister Talleyrand geschrieben, und dem Stande Luzern Glük gewünscht zu der freiwilligen Staatsumschaffung am 31. Jenner. Diese Friedens- und Freundschaftsversicherungen wurden unter Trompetenschall und Jubelgeschrei sogleich in der ganzen Stadt Luzern verkündet; die Regierung entließ die noch anwesenden Hülfstruppen der Waldstätte und andrer Landschaften mit Dank und Rührung und dem Bezeugen, „daß ihr Vortheil nie von dem andrer Kantonen getrennt werden solle, und daß sie, obgleich im vollen Zutrauen auf die Versicherung der fränkischen Regierung, nie aufhören werde, auf die gemeinsame Sicherheit ihr sorgfältigstes Augenmerk zu richten.“

Die Truppen aus den Waldstätten kehrten also in ihre Hütten zurük, doch mit dem Befehl, auf

den ersten Wink wieder zum Aufbruch gefaßt zu seyn. Denn wer dürfte glauben, daß nach so alles verwüstenden Begebenheiten die Ruhe der Schweiz geborgen sey? —

# Drittes Buch.

# Drittes Buch.

## 1.

Es ist weltkundig, daß Frankreichs Regierung, wiewohl durch seine glüklichen Heere an den Sieg gewöhnt, doch so leicht nicht den Bund der Eidsgenossen zu überwältigen gehofft hatte. Zwei verlorne Schlachten, und Einigkeit der Schweizer im Siege, — und die Bundesfahnen würden über Frankreichs Boden gegangen seyn, und die schwächste Seite der grossen Republik, wo lang und heimlich schon der Zunder des Misvergnügens glimmte, wo lang und heimlich schon Neigung für das Föderativsystem brannte, dem Angriff ungestümmer Bergvölker preisgegeben, oder gar dem deutschen Kaiser, zur Erneuerung des Krieges, geöffnet haben.

Daher schied Frankreich so ängstlich seine Händel mit den drei aristokratischen Gränzkan-

tonen von dem Interesse der übrigen Schweiz; daher war ihm die Lähmung der Alpenstaaten durch jedes treulose Mittel willkommen; daher war es gleich verschwenderisch, hier im Drohen, dort im Schmeicheln; daher verwikkelten sich des Luxembourgs Befehle und Gegenbefehle, welche unaufhörlich, fast immer miteinander im Widerspruch, an die verschiednen Minister in den eidsgenössischen und zugewandten Orten, oder an den Oberfeldherr Brüne liefen; daher der Direktoren unmässige Freude zu Paris, als sie die überraschende Nachricht von der Einnahme Freiburgs, Berns und Solothurns empfiengen. So leichten Preises das naturfeste Vaterland der alten Freiheitshelden, und jener schrekkenlosen Männer zu erobern, welche Europa zu den Kriegern ersten Ranges gezählt hatte, konnte niemand erwarten.—

Jezt war der grosse Vorwall durchbrochen, und die alte Neutralität der helvetischen Gebirge, welche mehr als einmahl, gleich einer zauberischen Aegide, von Frankreich den Todesstreich abfieng, gelöst. — Bei dem unsichern Frieden mit Oesterreich blieb nichts als Vollendung des Ganzen, Besiznahme der gesammten ungeheuren Alpen-

schanze übrig, welche, indem sie Italiens Seiten dekte, zugleich Frankreichs Blösse schirmte und des Kaisers Erblande bedrohte. Der gewaltthätige Entwurf, unter welchem Unschuld, Völkerrecht und Ehrfurcht für Tugend erlagen, ward zur Ausführung bereitet. Weder der Fluch der Schweiz, noch der Abscheu Europens vor solcher Treulosigkeit schrekte die Gewalthaber Frankreichs zurük, welche sich gewöhnt hatten, für Recht nur überlegne Macht, für Tugend nur Glük zu halten. Noch fehlte es zwar am scheinbaren Vorwand, die beneidenswürdige Ruhe stiller Hirtenvölker zu zerstöhren, welche, in ihren einsamen Thälern niemandes Wohl beeinträchtigend, vor niemandes Rache zu zittern hatten. Aber dem Verbrecher ist die Unschuld ein Verbrechen.

Die Hirten der schweizerischen Alpen glaubten sich wirklich, im Gefühl ihrer Unschuld, vor Frankreichs Ansprüchen geborgen. Zwar nährten sie geheimen Abscheu vor dem Volke, welches seine Freiheit mit so namenlosen Greueln besudeln ließ, aber sorgfältig hatten sie vermieden, den furchtbaren Nachbar zu reitzen. Die Geschäftsführer der demokratischen Berg- und Waldkanto-

nen hofften, indem sie sich so wenig, als möglich, in Frankreichs Hader mit den Aristokratien mischten, daß der Untergang von diesen das Ende des traurigen Spieles werden würde. — Doch gab ihnen der Anblik der fränkischen Uebermacht und die Leichtigkeit, mit welcher durch Waffengewalt auch der Rest der Schweiz unterjocht werden könnte, und das bedeutungsvolle Ausstreuen einer neuen allgemeinen helvetischen Staatsverfassungs-Urkunde schauderhafte Ahnungen.

Schwyz vor allen blieb nicht länger gleichgültig. Es wollte Beruhigung über sein Schikſal. Es räumte freiwillig in offner Landesgemeinde den lezten Anstoß hinweg, welcher ihm Gefahr bringen konnte, und erklärte alle Angehörige, so noch nicht ausdrüklich freigelassen worden waren, unabhängig. *) Es lud die Nachbarn von Uri, Unterwalden und Glarus zu einer Unterredung auf Brunnen ein, **) sich über eine Gesandtschaft an den fränkischen Oberbefehlshaber, und über allenfallsige Rüstung zur Vertheidigung zu berathen.

Schon

*) Landsgemeinde. Schwyz, 10. Merz.

**) Den 9. Merz.

Schon hatten wirklich Unterwalden ob dem Wald, und der Kanton Luzern für sich an den fränkischen Feldherrn die Frage ergehn lassen: ob sie von Seite Frankreichs Anmuthungen zu befürchten hätten?

Hier folgen die Antworten, welche der bevollmächtigte General beiden Ständen gab:

## An Luzern.

„Bürger!

„Die grosse Nation hat nicht aufgehört, Beweise zu geben, wie sehr sie die Bande schätze, welche sie mit dem Kanton Luzern vereinigen. Sie hat keine Befehle zu Feindseligkeiten gegen diesen Stand ertheilt; im Gegentheil wünscht die grosse Nation ihre alten Verbindungen mit dem Kanton Luzern zu erhalten, überzeugt, daß selbiger durch seine Liebe zur Freiheit stets würdig seyn werde, den Namen: Nachkommen Wilhelm Tells zu führen.“ — *)

*) Bern, 20. Ventose VI.

## An Obwalden.

„Bürger!

„Die grosse Nation hat noch nicht unterlassen, die Bande zu ehren, wodurch sie mit dem Kanton Unterwalden verknüpft ist. Auch hat sie zu keinen Feindseligkeiten gegen diesen Kanton Befehl gegeben. Die grosse Nation wünscht vielmehr, ihre alten Verbindungen mit dem Kanton Unterwalden beizubehalten.“*)

Unter diesen feierlichen Zusicherungen des Oberfeldherrn Brüne erwachte die betäubte Hoffnung der Eidsgenossen wieder.

Es versammelten sich nach den Wünschen von Schwyz die Gesandten der vier obenerwähnten Gebirgskantone zu Brunnen am See. Auch Zug trat ihnen bei. — Schwyz legte den Versammelten den Entwurf einer Zuschrift an den Franken-General vor, welcher genehmigt, und von einer Deputation nach Bern getragen, dort dem Feldherrn Frankreichs überreicht wurde.

Folgendermassen lautet die Zuschrift, so reich an Kraft, als Würde:

*) Bern, 20. Ventose VI.

Bürger General!

Die Repräsentanten der demokratischen Stände Uri, Schwyz, Unterwalden, Nid dem Wald, Zug und Glarus geben sich die Ehre, nach dem Auftrag ihrer Comittenten, nemlich ihrer respektiven Landsgemeinden, folgende ehrerbiethigen Vorstellungen zu überreichen.

Obwohl keiner aus uns sich jemahls vorstellen könnte, daß es weder in den Gesinnungen, weder in den Grundsätzen der französischen Republik liegen möchte, die demokratische Stände in jener Freiheit zu beeinträchtigen oder zu stören, welche die französische Nation auch der übrigen Schweiz zum Muster geben zu wollen scheint, so können wir Euch, Bürger General! dennoch nicht bergen, daß die Annäherung der französischen Truppen, die Ungewißheit ihrer Bestimmung, die Nachrichten, die sich verbreiten, auch unter uns wichtige Besorgnisse erregten; und wirklich würden wir die Schätzung der französischen Nation nicht verdienen, wenn wir einen geringern Werth auf jene Freiheit sezten, die uns das Blut unsrer theuern Väter erworben, deren Andenken die

französische Nation in ihren Schriften heute noch ehrt.

Mithelfer und Zeuge der siegreichen Bestrebungen Eurer grossen Nation wisset Ihr, Bürger General! am besten, was der Enthusiasmus der Freiheit bei einem freien Volke zu wirken vermag.

Indessen haben alle diese Gerüchte, alle diese Besorgnisse das Zutrauen nicht schwächen können, das wir immerfort in die Gesinnungen der Gerechtigkeit der französischen Republik setzen.

Diese Gesinnungen sind es, die unsre Landsgemeinden bewogen, Repräsentanten an Euch, Bürger General! abzuordnen, um Euch angelegenst zu ersuchen, unsre Besorgnisse durch die aufrichtige und beruhigende Versicherung zu heben, daß die französischen Truppen unser Gebiet nicht betreten werden, und daß das französische Direktorium nicht gesinnt sey, die Religion, die Unabhängigkeit, die Freiheit und die Verfassung unsrer demokratischen Stände zu stören; eine Verfassung, die wir alle wie eine gute Mutter lieben, die uns seit Jahrhunderten glüklich machte; eine Verfassung, welcher die Souverainität des Volkes

und das Menschenrecht in all ihrer Reinheit und Kraft zum Grunde liegen, und welche daher mit den Grundsätzen der französischen Republik gänzlich übereinkömmt; ein einziges Verhältniß, worin vielleicht die französische Nation eine Abänderung hätte wünschen mögen, war, daß einige demokratische Stände unter ihrem Volke noch Untergebene oder Angehörige zählten; allein unsre Stände haben keine Untergebene mehr. Sie sind frei, wie wir frei sind, so daß in unsrer Verfassung kein Verhältniß mehr besteht, welches den Grundsätzen der französischen Republik widrig seyn könnte.

Geruhet demnach, Bürger General! uns über die friedlichen und wohlwollenden Gesinnungen des französischen Direktoriums eine beruhigende Versicherung zu ertheilen, und überzeugt zu seyn, daß wir sämmtlich nichts sehnlicher wünschen, als mit der grossen Nation im Frieden und gutem Wohlverständniß zu leben.

Empfanget von einem getreuen Bergvolk, das kein anders Gut, als seine Religion und seine Freiheit, keinen andern Reichthum, als seine Heerden besizt, die aufrichtige Versicherung, daß dies Volk sich eifrigst bestreben werde, der franzö-

sischen Republik von seiner Anhängigkeit alle jene Beweise zu geben, die immer mit seiner Freiheit und Unabhängigkeit vereinbar sind.

Bürger General! genehmiget auch noch die feierliche Gelobung, daß unsre Stände niemals die Waffen gegen die französische Republik ergreifen, nie sich mit ihren Feinden verbinden werden; unsre Freiheit wird unser Glük seyn, und die Pflicht, dieselbe zu vertheidigen, wird unsre Arme bewaffnen.

Möchten diese feierlichen Versicherungen uns jene gegenseitige Versicherung erwerben, die wir uns von Euch, Bürger General! ehrerbiethig ausbitten; dann werden unsre Unruhen und Sorgen sich in jene Empfindungen der Freude und der Anhänglichkeit verwandeln, die wir der Regierung der französischen Republik und ihrem würdigen General unablässig wiedmen werden.

Bern, den 16. Merz 1798.

Gruß und Hochachtung.

Die Repräsentanten des Volks und der Räthe der Stände Uri, Schwyz, Unterwalden, Nid dem Wald, Zug und Glarus:

| | |
|---|---|
| Uri. | Thadee Schmid, Landamman.<br>Schmid, Landshauptmann.<br>de Menteln, Conseiller. |
| Schwyz. | Büeler, Amtsstatthalter.<br>Ab-Iberg, Altstatthalter.<br>Castell, Salzdirektor.<br>Metler, Gesandter. |
| Unterwalden. | Würsch, Landamman.<br>Zelger, Landshauptmann.<br>Xaver Würsch.<br>Jos. Maria Christen. |
| Zug. | Karl Franz Kayser.<br>Franz Joseph An der Matt.<br>Anton Heß.<br>Aloys Staub.<br>Joseph Baumgartner. |
| Glarus. | Zweifel, Präsident.<br>Zopfi, des Raths.<br>Müller, des Raths. |

General Brüne empfieng die Abgeordneten der Waldkantone nicht nur mit ausgezeichneter Achtung, sondern löschte durch seine Antwort jeden Kummer, jeden Argwohn im Herzen der Besorgten aus.

## Brüne an die demokratischen Stände.

„Bürger!

„Ich versichre den Repräsentanten der demokratischen Stände, daß bei den Ereignissen, welche die fränkische Armee, von den Berner Oligarchen gereizt, in die Schweiz zogen, die demokratischen Stände nicht aufgehört haben, die Freundschaft der fränkischen Republik beizubehalten, in deren Absichten es nicht gelegen, ihre Waffen auf euer Gebiet zu übertragen.“ *)

Die Waldstätte überliessen sich der angenehmen Täuschung, daß das Gewitter schadenlos vorbeigezogen, und nur den Stolz der Aristokratien zu beugen hergekommen wäre; um so mehr, da auch Zürich endlich durch den Vergleich zu Küsnacht am Zürichsee **) seiner Gewalt und Alleinregierung förmlich entsagt hatte. Denn die Waldstätte, besonders Schwyz, würden, sobald Zürich den äussersten Widerstand zu wagen entschlossen gewesen, der Stadt einen Beistand nicht haben weigern können, welchen sie ihr noch einige

*) Bern, 26. Ventose VI.

**) Den 10. Merz.

Wochen vorher *) freundnachbarlich zugesichert hatten. **)

Der einzige Gegenstand ängstlicher Besorgnisse für die demokratischen Kantone der Schweiz konnte vielleicht noch der umhergebotne Entwurf zu einer einen und untheilbaren Republik in der Schweiz seyn. Aber auch diese Furcht erlosch, als Brüne selbst eine rhodanische und eine helvetische Republik, und einen dritten Staat, Tellgaü genannt, aus den Trümmern der Eidsgenossenschaft zu bilden verkündete. Zum Tellgaü sollten die Gebirgskantone gehören, in ihrer alten Form

*) Den 1. Merz.

**) Die Abgeordneten Abegg und Balth. Holdener von Schwyz, welche in die March gesandt waren, sie frei zu erklären und mit dem Kanton Schwyz zu vereinigen, hatten dabei durch einen eben so eigenmächtigen als unvorsichtigen Schritt ihren Stand gegen Zürich sehr compromittirt, indem sie der Marcher Landscommission vortrugen, daß Schwyz entschlossen sey, den Stand Zürich zum Einwilligen in die Begehren seines Landvolks zu bewegen, widrigenfalls aber die Stadt zum Wohl gesammter Schweiz mit den Waffen zu demüthigen. — Nie hatten die Abgeordneten zu solcher Erklärung einen Auftrag empfangen.

und Weise. Ehrfurcht gegen jene Gegenden, welche die Wiege der neu-europäischen Freiheit, das Vaterland der Helden war, welche Frankreich selbst in seinen Tempeln, öffentlichen Denkmälern und Gesängen ehrte; — gegen jene Gegenden, welche glüklich und muthvoll in uralter Freiheit lebten, schien den Gedanken an einen Tellgau geboren zu haben.

Doch nicht lange lebte dieser Gedanke. Mehrere Männer, welche die verlorne Stärke der Schweiz nur in ihrer unbedingtesten Einheit wieder zu finden hofften, bestritten den neuen Föderalismus. Brüne wankte. Als, bald nach bekanntgemachtem Scheidungs-Entwurf, ein aufgeklärter Helvetier zu ihm trat mit gründlichen Erinnerungen wider diese Trennung, hielt der Feldherr ihm lächelnd auf einem Teller zwei Wassertropfen dar. Durch eine Erschütterung von seiner Hand flossen sie beide zusammen.

Unerwartet daher für die Gebirgsstaaten erfolgte der Schlag, welcher sie in die eine und untheilbare Republik auflösen sollte. — *)

*) Proklam. Bern, 22. Merz 1798. Bald nachher erfolgte des Regierungs-Commissär Lecarliers Proklam, gleichen Inhalts.

„Brüne, Oberbefehlshaber der fränkischen Armee in der Schweiz an die Bürger aller Kantone.“

„Kaum war die Trennung Helvetiens in zwei Republiken entschieden, welche mitten in den lezten Zukungen der Oligarchie gegen die Freiheit und in der Gährung entgegengesezter Leidenschaften verlangt wurde: so äusserte sich der Schmerz in allen Gemüthern, und der lebhafte Wunsch für die Vorzüge der republikanischen Einheit.“

„Gerührt durch die mannigfaltigen Zeugnisse derjenigen, welche selbst diese Trennung begehrt hatten, stimme ich mit völligem Zutrauen zu den Wünschen für Einheit, da ich versichert bin, daß dieses Begehren aufrichtig sey.“

„In Folge dessen werden die Deputirten, welche sich zu Lausanne in ein gesezgebendes Corps vereinigen sollten, sich sogleich nach ihrer Erwählung gen Arau begeben, um mit den Deputirten der übrigen Kantone das gesezgebende Corps der einen und untheilbaren helvetischen Republik bilden zu helfen.“

## 2.

Diese Verkündung führte die Völker des schweizerischen Hochlandes plözlich wieder in den alten Sturm zurük, dem sie vor wenigen Tagen entronnen zu seyn glaubten; sie ward das allgemeine Lermzeichen zur kriegerischen Rüstung der fünf alten eidsgenössischen Stände von Uri, Schwyz, Unterwalden, Zug und Glarus. Und obwohl sie das Misverhältniß ihrer Kraft zu der Uebermacht des fränkischen Kolosses fühlten, erschien ihnen ihr Recht doch immer grösser, denn jede Gewalt. Nichts aber kann den beugen, der einmahl für sein Heiligthum zu leiden entschlossen ist. Jeder Schmerz, und jede Lust geben seinem edeln Stolze gleiche Nahrung, und entflammen nur immer mehr in ihm jene Begeisterung, jene Märtyrersehnsucht, wenn auch verkannt und zertreten von unwürdiger Zeitgenossenschaft, doch nicht ohne Verdienst unterzugehn vor den Augen einer gerechtern Nachwelt und eines untäuschbaren, höhern Wesens.

Uri rief zuerst seinen Bundsverwandten in den Gebirgen zu, alles eher dahinzugeben, denn die

wirkliche Staatsverfassung, „dies theure Erbtheil von den Vätern.“

Schwyz, von gleichen Empfindungen beseelt, ermahnte den Stand und Vorort Uri, ohne Zeitverlust, da die Gefahr drohender, als je, worden, alle demokratischen Stände, Unter- und Obwalden, Zug und Glarus, selbst, wenn man es gut finden sollte, Appenzell und die alt St. Gallische Landschaft, welche durch eigne Boten an Schwyz schon ähnliche Wünsche zu erkennen gegeben, zu einem eidsgenössischen Zusammentritt einzuladen.*) Es war die Frage: ob man, von Fremdlingen befehligt, die alte, durch das Blut der Väter eingeweihte, durch das Glük einiger Jahrhunderte geheiligte Verfassung, ohne Widerstand dahin geben, oder ob man die Ehre des bisher ungeschändeten Schweizer-Namens jedem Verlust, dem Tode selbst, vorziehn wolle?

Das Einladungsschreiben des Vororts lief alsbald durch die hohe Schweiz. Alle Völkerschaften regten sich. In allen Gebirgswinkeln ward es laut. Greise und Kinder dürsteten nach Streit.

*) Schwyz an Uri, den 26. Merz.

Der Eifer war so groß, daß selbst die Weiber, ihres Geschlechtes Schwäche uneingedenk, zum Kampf sich erboten.

Es war am ersten Tag des Aprilmonds, da erschienen die Abgeordneten der fünf alten Orte (Uri, Schwyz, Unterwalden, Zug und Glarus,) zur Unterredung im Flekken Schwyz, gemeinsam die Beschirmung des alten Regiments und der Religion zu berathen.— Nur Unterwalden kam am spätesten. Denn das Volk nid dem Walde war durch Partheiungen getrennt. Ein Schreiben von Luzern, reich an grossen Beweggründen, hatte hier die Gemüther eine Zeitlang wankend gemacht zwischen Annahme des Neuen, oder Vertheidigung des Alten.— Schwyz, kaum von seiner Bundesbrüder Unentschlossenheit belehrt, sandte sogleich Boten dahin, die „ältesten Mit-Landleute und Brüder zu beschwören, daß sie in diesen über alles wichtigen Tagen nicht jene heiligen Bande der Bruderliebe zerreissen mögten, durch welche ehmahls die seligen Vorväter beider Völkerschaften so fest und glüklich vereinigt waren.“ Doch die Boten von Schwyz hatten noch nicht die Ufer Unterwaldens berührt, als sie schon er-

führen, daß sich auch dieser Stand, nach einigem Zweifeln, entschlossen habe, dem Kriegs-Bund der Berg- und Waldkantonen beizutreten, und lieber brüderlich unterzugehn mit denen sie so lange das Glük der vorigen Zeiten getheilt hatten.

Ein besondrer Umstand machte die erste Sitzung der fünf alten demokratischen Orte noch wichtiger, und wehte die Flamme des Enthusiasmus höher. Uneingeladen kamen auch Abgeordnete vom Toggenburg, Rheinthal und Sargans, welche alle die Begierde ihres Volks äusserten, dieser Versammlung beizuwohnen, und sich fest anzuschliessen an die fünf Stände, zur Vertheidigung des Vaterlandes. Eben so trafen mit gleichen Wünschen die Abgeordneten von Appenzell Inner- und Ausser-Rhoden, der Landschaft und Stadt St. Gallen ein.

Die fünfortische Tagleistung aber, obgleich gerührt von diesen Zeugnissen hohen Gemeingeistes, wagte es doch, wegen mangelnder Bevollmächtigung, nicht, den Deputirten jener Völkerschaften in ihrer eignen Mitte Siz und Stimme zu geben. Auch wollte sie auf keine Weise dem fränkischen Heerführer, der jene Kantonen schon namentlich

zur neuen Republik eingetheilt hatte, den leisesten Vorwand zu Kränkungen gewähren. Man lies sie also abgesonderte Sitzungen halten, und es ward beschlossen, daß jeder Theil eine eigne Denkschrift an das fränkische Direktorium abfassen sollte, welche aber dann in einerlei Ueberschlag und auf gleiche Weise nach Paris zu bringen wäre. Ausserdem ward alles eins, die gegenwärtige Staatsverfassung gegen die Anmuthung des verwegnen Ausländers mit Gut und Blut zu verfechten, wenn Gewalt einst ergehen würde, für Recht.

Da die Tagleistung schon geschlossen war, meldeten sich auch Abgeordnete der Landschaft March, beauftragt, mit den fünfortischen Gesandten gemeinschaftliche Sache zu machen. Sie erhielten aber, da die Beschlüsse einmahl genommen waren, keinen Zutritt.

Die Unterwaldner ob dem Walde, während ihre Boten in der Reihe der Eidsgenossen zu Schwyz sassen, änderten plözlich ihren Sinn. Das Volk von Obwalden, zwar im starken Gefühl seines Rechts, erkannte auch die unwider-

siehlige Nothwendigkeit, früher oder später einst der überlegnen Macht weichen zu müssen. Bei der zärtlichsten Theilnahme am Schikſal der ältesten Bundsverwandten empfand es zugleich die Pflicht, sich an die Mehrheit der schweizerischen Völkerschaften zu schliessen, und seine Selbstständigkeit (als kleiner Freistaat) dem Wohl des Ganzen zu weihn, und des Bürgerkriegs gräßliche Ausschweifungen zu meiden. Umsonst sandte das Volk nid dem Kernwald, umsonst Schwyz abmahnende Botschaften an die Landsgemeinde von Sarnen. *) Die Deputirten beider Stände wurden standhaft zurükgewiesen. Das versammelte Volk erlaubte ihnen nicht einmahl vor ihm zu erscheinen, sondern sandte, vereint mit der Abtei Engelberg, gen Bern, dem fränkischen Heerführer anzuzeigen, daß es die neue helvetische Landesverfassung angenommen habe. — General Brüne hatte inzwischen den Oberbefehl der Franken-Armee in der Schweiz dem General Schauenburg übertragen.

*) Sarnen ist der Hauptflekken in Obwalden.

Der Abfall Obwaldens erbitterte zwar die vereinten Gebirgsstaaten, aber schrekte sie nicht von der erwählten Bahn zurük. Mogte diese auslaufen zum Siege oder Tode, gleichviel, da beide Lorbeern trugen.

Schon am fünften April zogen die Gesandten der Eidsgenossen nach Bern, um von da nach Paris, der weltgebietenden Stadt, zu eilen. *) Als sie zum General Schauenburg, und dem Regierungs-Commissär Lecarlier gekommen waren, foderten sie von diesen die nothwendigen Pässe zur Fortsetzung ihrer Reise, und baten um Fürsprache und Unterstützung bei der fränkischen Regierung.

Es war zu spät. Lecarlier und Schauenburg hatten schon Befehl, den halbzerstöhrten eidsgenössischen Staatskörper in eine unzertheilte

*) Es waren Statthalter Aloys Müller von Uri, Landamman Ludwig Weber von Schwyz, Landamman Zweifel von Glarus, wie auch die von Appenzell und übrigen Landschafts-Deputirte, Landshauptmann Jos. Blum von St. Gallen, und Pannerherr Joh. Jak. Mesmer von St. Gallen.

Republik zu verwandeln. Es war also nur an ihnen, Anlässe zu suchen, Gründe zu erfinden, den eisernen Befehl zu vollziehn.

Daran fehlte es nicht lange. Die Schwyzer Landleute nährten Groll gegen Luzern, welches sich zur Untheilbarkeit der Schweiz bekannt, und den helvetischen Freiheitsbaum errichtet hatte in allen Dörfern. Die Gränzorte des Schwyzer- und Luzerner-Kantons, in täglichem Verkehr mit einander, blieben bei der Geschiedenheit der Meinungen über das Schikfal der Schweiz nicht ohne lärmende Auftritte. Zu Greppen im Kanton Luzern wurde der neue Freiheitsbaum aus dem Boden gerissen, und das dreifarbige Fähnlein der werdenden helvetischen Republik in wildem Triumpf nach Küsnacht, am Waldstätter-See, entführt. In andern Gegenden vereinte der Luzerner Landmann seine Stimme mit dem Schwyzer gegen die Stadt Luzern. Es war umsonst, daß die Obrigkeit des Kantons Schwyz dagegen Warnung und Strafe verkünden lies. Allzulaut war des Volkes Grimm. Schauenburg und Lecarlier aber nahmen daraus den Vorwand, die

der helvetischen Vereinigung abgeneigten Kantone als feindlichgesinnte zu erklären.

Sie verweigerten daher den Abgeordneten in Bern die Pässe auf Paris, und wiesen sie mit schnöder Kälte zurük. — Die Denkschriften erreichten also nicht Paris; verloren sollen sie aber der Nachwelt nicht seyn. Sie bezeichnen den Geist der Eidsgenossen, der überall mit republikanischem Stolz auf sein Recht gelehnt, die Sprache brüderlicher Zuversicht führt.

Hier folgen dieselben:

Bürger Geschäfsträger!

Die Volksrepräsentanten der ältesten demokratischen Stände der Schweiz, einerseits durch die wichtigen vorgehenden Veränderungen in bange Sorgen gesezt, anderseits durch die großmüthigen Gesinnungen, welche die französische Republik gegen die freien Volksregierungen immer geäussert hatte, wieder aufgemuntert, hatten eben in dem Hauptflekken Schwyz sich gesammelt, um sich ihre Gedanken mitzutheilen, um sich brüderlich über die Mittel und Wege zu berathen, die sie anzuwenden und einzuschlagen haben möchten, um ihre

freie Volksverfassung beibehalten zu können, deren Verlust das gute Volk dieser friedlichen Thäler in einen Zustand von Trostlosigkeit und von Verzweiflung versetzen würde; in unsern Berathungen vorzüglich durch unser unbegränztes Vertrauen auf die gerechtigkeitsvollen Empfindungen des Vollziehungs-Direktoriums der französischen Republik geleitet, war das Resultat derselbigen beinahe schon dahin entschieden, ihre dringliche Vorstellungen über diese wichtige Angelegenheit durch Abgeordnete aus ihrer Mitte dem Vollziehungs-Direktorium überreichen zu lassen; als zu eben dieser Zeit auch die Volksrepräsentanten der schweizerischen Stände und Orten, Appenzell, Stadt und Landschaft St. Gallen, Toggenburg beider Religionen, des Rheinthals und Sargans, an dem Ort unsrer Zusammenkunft in der Absicht eintrafen, über den gleichen Gegenstand sich mit uns zu berathen.

Obwohl ihre Verfassungen der unsrigen ähnlich sind, und gleiche Besorgnisse sie zu uns herführte, hielten uns doch einige Verschiedenheit der Beweggründe und andern Betrachtungen ab, unsere Vorstellungen mit den ihrigen in eine Bittschrift

zu fassen. — Billig aber würden wir den Tadel eines jeden Rechtschaffenen zu verdienen besorgt haben, wenn wir eidsgenössische Brüder von eben dem Schritte hätten abwendig machen wollen, durch [illegible]n wir das Ziel unsrer Wünsche am sichersten zu erreichen hofften.

Auch sind wir überzeugt, daß weder Ihr, Bürger Geschäftsträger, noch das Direktorium es uns nicht verdenken werden, wenn wir diese Stände nicht zu behindern suchten, ihre Vorstellungen mit und neben der unsrigen der hohen Behörde überreichen zu lassen.

Unterdessen machten wir es uns zur Pflicht, Euch, Bürger Geschäftsträger, auch von dem Umstand bei diesem Anlaß zu benachrichtigen, wo wir uns die Ehre geben, Euch die Vorstellungsschrift mitzutheilen, die wir an das französische Direktorium zu erlassen die Freiheit nehmen.

Die Empfindungen der Menschenliebe und Gerechtigkeit, die vielen holden Beweise, die Ihr unserer Nation bereits hievon gegeben, und Eure Kenntnisse von den Verhältnissen unsrer demokratischen Ständen sind uns so viele Bürgen, daß

Ihr unsre ehrerbietige Wünsche bei dem Direktorium zu unterstützen belieben, und Euch dadurch einen neuen Anspruch auf unsre Dankbarkeit erwerben werdet, die unauslöschlich seyn wird, wie die Empfindungen der Verehrung, die wir Euch gewiedmet haben.

Gegeben Schwyz den 5. April 1798.

Gruß und Hochachtung.

Unterzeichnet im Namen der Repräsentanten der Gemeinden und Räthe der demokratischen Stände Uri, Schwyz, Unterwalden unterm Wald, Zug und Glarus:

Weber, Landamman und Pannerherr.
Mod. Schueller, Alt-Landamman.
Joh. Anton Ulrich, Landschreiber des Kantons Schwyz.

## Sendschreiben der fünf alten demokratischen Stände an das fränkische Vollziehungs-Direktorium in Paris.

Bürger Direktoren!

Da sich die fränkische Republik als Freundinn und Beschützerinn des schweizerischen Volkes erklärte, und die Souverainität desselben zu respek-

tiren gelobte, schien ihre Absicht einzig dahin zu gehen, die Bestrebungen zu unterstützen, welche die Einwohner der aristokratischen Stände machen dürften, um in der Schweiz die Wiedergeburt jener ursprünglichen Freiheit zu bewirken, zu der unsre demokratischen Kantone den ersten Grund gelegt hatten.

Durch diese von der fränkischen Republik so laut geäusserten Grundsätze beruhiget, waren wir weit entfernt, auch nur zu vermuthen, daß es in den Gesinnungen der fränkischen Republik liegen möchte, in ihrer Freiheit und Unabhängigkeit jene Volksregierungen zu stören, die sie den übrigen Völkern der Schweiz als ein ihren Wünschen und Bestrebungen würdiges Gut angepriesen hatte.

Unterdessen hatten doch die Annäherungen der fränkischen Truppen, die Ungewißheit ihrer Bestimmung, die Nachrichten, die uns zukamen, die Gerüchte, die sich verbreiteten, auch uns, die Bewohner dieser friedlichen Thäler, in nicht geringe Sorgen gesezt.

Allein unser lebhaftes Vertrauen auf Eure gerechtigkeitsvollen Gesinnungen, Bürger Direktoren,

unser fester Glaube an die Uebereinstimmung Eurer Handlungen mit Euern Grundsätzen und Versicherungen, hatten unsre Besorgnisse wieder gemildert.

Von Eurer Zuversicht belebt, ordneten wir aus der Mitte unsrer Volksversammlungen Repräsentanten an Euern kommandierenden General Brüne nach Bern ab; derselben gefällige Aufnahme, die schriftlich und mündlich erhaltne beruhigende Zusichrungen, stillten vollends unsre Sorgen.

Kaum aber waren diese unsre Bekümmernisse gehoben, kaum hatten wir uns wieder der tröstlichen Hoffnung überlassen, als wir von der provisorischen Regierung in Solothurn den Entwurf der neuen helvetischen Konstitution und die Einladung zur Annahme derselben erhielten, und zugleich die Sage durch unser Land gieng, daß alle Stände der Schweiz zur Annahme derselben sich zu bequemen hätten.

Wir finden keine Worte, die Bestürzung zu schildern, die diese auf den Zusammenfluß so vieler Wahrscheinlichkeiten gegründete Nachricht unter uns verbreitete.

Vergeblich würden wir Ausdrükke suchen, die Schmerzen zu beschreiben, mit denen uns diese Besorgniß erfüllte, die von unsern Vätern gestiftete Verfassung zu verlieren, die unsrer Gemüthsart und unsrer Lage so angemessen ist, daß wir seit Jahrhunderten unter ihrem Schutze jenen Grad von Wohlstand geniessen, dessen unsre friedlichen Thäler empfänglich sind.

Erlaubt, Bürger Direktoren, daß wir Euch über den Entwurf auch dieser, unsrer Volksregierung eine andre Form zu geben, — (wenn solcher in Euerm Vorhaben liegen sollte,) in der ungekünstelten Sprache der Freiheit unsre Vorstellungen machen dürfen.

Erlaubet, daß wir freimüthig Euch fragen, was Ihr denn in dieser unsrer Verfassung findet, das gegen die Grundsätze der Eurigen anstosse?

Könnte wohl ein Regierungsplan entworfen werden, nach welchem die Souverainität so ausschließlich in den Händen des Volks läge? wo zwischen allen Ständen eine vollkommnere Gleichheit herrsche? wo jedes einzelne Glied eine ausgedehntere Freiheit genieße? — Wir

tragen keine andern Fesseln, als die sanften Fesseln der Religion und der Sittenlehre; kein Joch drükt unsre Nakken, als das süsse Joch der Gesetze, die wir uns auflegen. — Anderwärtig mag dem Volk hierüber manches zu wünschen erübrigt haben.

Aber bei uns, bei den Abkömmlingen Wilhelm Tells, dessen Thaten für die Freiheit Ihr heute noch preiset, bei uns, die wir bis auf diesen Tag in dem ungestörten Genuß dieser Verfassung geblieben sind, und für deren Beibehaltung wir, mit allem Nachdruk des Gefühls einer gerechten Sache, zu Eurer Gerechtigkeit reden, bei uns ist nur Ein Wunsch, nur der einstimmige Wunsch — bei der Verfassung bleiben zu können, die uns die Vorsicht und der Muth unsrer Väter gegeben, — und welche Verfassung könnte wohl richtiger mit der Eurigen übereinstimmen? —

Wir, das gesammte Volk dieser Länder, dessen Souverainität zu respektiren Ihr so oft versprachet — wir machen den Landesherrn unsrer kleinen Staaten aus; wir setzen und entsetzen nach unsrer Willkühr unsre Vorgesezte; die Abtheilun-

gen unsrer Kantone erwählen unsre Räthe, die unsre Stellvertreter, die Stellvertreter des Volks sind.

Dieses ist, Bürger Direktoren, in Kurzem der Inbegriff unsrer Regierungsform — ruhet sie nicht eben auf der Grundlage, auf welcher die Eurige erbauet ist ?

Wie solltet Ihr dann den Willen, oder je einen Beweggrund, je einen Vortheil haben können, diese unsre Verfassung und damit unser Glük zu zerstöhren ?

Wenn auch die Macht dazu in Euern Händen liegt, wird wohl Eure Gerechtigkeit Euch gestatten, von derselbigen Gebrauch zu machen, um bei uns an der Stelle unsrer Verfassung eine Regierungsform einzuführen, deren Bestandtheile kaum der Hundertste unter uns zu begreifen im Stande ist.

Ein Berg- und Hirtenvolk, in unserm Ursprung immer den Einrichtungen und der Sittenfalt unsrer Väter getreu, glüklich in unserm Mittelstand, zufrieden bei wenig Bedürfnissen, würden wir aus den beschränkten Einkünften unsrer

Länder kaum die Besoldung unsrer nach der neuen Konstitution zu gebenden Stellvertreter zu bestreiten vermögen.

Die Eingriffe in das Privateigenthum, und auch dieses würde in wenigen Jahren erschöpft seyn, müßte in unsern Ländern eine allgemeine Verarmung erzeugen, und eine nie versiegende Quelle von Unruhen und Plagen werden.

Wundert Euch demnach nicht, Bürger Direktoren, wenn diese traurige Gewißheit, wenn diese düstern Aussichten uns von der Annahme einer neuen Ordnung der Dinge zurükschrekken, die uns als eine Last vorkommt, deren Gewicht unsre Kräfte übersteigt.

Eure tiefe Politik, Eure genaue Kenntniß der Gemüthsart, der Lage und der Kräften der Völker, die Euch umgeben, werden die Wahrheit unsrer Vorstellungen unterstützen, und beredter als wir wird Eure Menschenliebe für uns sprechen.

Eure grosse Nation, die ihre größte Ehrbegierde darin setzet, durch erhabene Thaten der Gerechtigkeit und des Edelmuths ihre Jahrbücher zu verherrlichen, könnte sie wohl ihre glänzende

Geschichte durch den düstern Zug verdunkeln wollen, daß sie die Verfassung und das Glük eines friedlichen Volks zerstörte, das ihr nie etwas Leides gethan, das weder den Willen noch die Kraft hat, ihr jemahls schaden zu können?

Ferne, dieses zu fürchten, gewähren uns vielmehr Eure geäusserten Grundsätze die tröstliche Hoffnung, daß Ihr die entworfene neue Verfassung nur jenen Völkern der Schweiz geben werdet, die solche verlangen, und daß Ihr mitten unter den Veränderungen, die Ihr zu treffen im Begriffe stehet, jene Volksverfassungen, welche die von Euch so oft gepriesenen Schweizerhelden gestiftet, als so viele redende Zeugen Eurer Grundsätze, als so viele bleibende Denkmäler Eurer Gerechtigkeit, ungestört zu lassen gesinnet seyd.

Geruhet, Bürger Direktoren, uns noch einen holden Beweis Eures den Volksregierungen günstigen, großmüthigen Schutzes durch die Verfügung zu ertheilen: daß unsern Ländern die Verkehre mit der übrigen Schweiz frei, offen und ungehindert bleiben.

Geruhet besonders, durch die trostvolle Zusicherung Eurer wohlwollenden Gesinnungen uns bald

aus der quälenden Ungewißheit zu ziehen, in die wir versezt sind; — denn werden unsre friedlichen Thäler von den Ausdrükken der Dankbarkeit und der Verehrung erschallen, die wir Eurer grossen Nation — dieser mächtigen Freundinn aller Völker, und ihren würdigen Vorstehern unabläßlich wiedmen werden.

Geben zu Schwyz den 5. April 1798.

Gruß und unbegränzte Hochachtung.

Im Namen der Gemeinden und Räthen der demokratischen Stände Uri, Schwyz, Unterwalden nid dem Wald, Zug und Glarus:

| | |
|---|---|
| Uri. | Schmid, Alt-Landamman.<br>Schmid, Landshauptmann. |
| Schwyz. | Weber, Landamman Pannerherr.<br>Schueller, Alt-Landamman. |
| Unterwalden unterm Wald. | Franz Anton Würsch, Landamman.<br>Zelger, Landshauptmann. |
| Zug von Stadt u. gesammten Land. | Franz Joseph Andermatt.<br>Karl Franz Kaiser.<br>Anton Heß.<br>Aloys Staub.<br>Joseph Baumgarten. |
| Gemeinsamer Stand Glarus. | Zweifel, Landamman.<br>Felix Müller, Landsstatthalter. |

Dom. Anton Ulrich,
Landschreiber des Kantons Schwyz.

## Schreiben des Volks von Appenzell, St. Gallen, Toggenburg, Rheinthal und Sargans an das fränkische Direktorium.

Bürger Direktoren!

Euer Beispiel hat die Völker aus ihrem Schlummer gewekt. Seitdem die grosse Nation die Freiheit wieder auf Erden zurükbrachte, ließ eine Völkerschaft nach der andern sich von diesem heiligen Feuer entzünden.

Und welche Empfindungen der Freude müssen nicht das Herz eines schweizerischen Patrioten durchströmen, wenn er daran denkt, daß die grosse Nation selbst den ersten Funken ihres Feuers sich vom Altar unsers Vaterlandes holte, da unsre Väter durch ihre Heldenthaten den ersten Stoß dem sklavischen Europa gaben.

Wir sind die Nachkommen dieser Väter, Bürger Direktoren, und, wie wir hoffen, nicht ganz unwürdige Nachkommen, da wir in diesen Tagen der allgemeinen politischen Wiedergeburt auch durch ein rühmliches Bestreben jene alte Freiheit wieder herstellten, die unsern durch den Geist der

damahligen

damahligen Zeiten irrgeführten Brüder uns einst wegnahmen; doch jezt haben eben diese Brüder, die würdigen Söhne der Tellen, ihrer Väter, gewarnet vom Geiste unsrer Zeit, sich selbst vor den Augen der Nachwelt dadurch geehrt, daß sie freiwillig einer Herrschaft über Brüder, die ihnen gleich an Rechten sind, entsagten.

Mit einem Wort, Bürger Direktoren, wir sind nun alle frei, nach dem Beispiel des demokratischen Kantons Appenzell, unsers Vorgängers auf dem Pfade der Freiheit, der schon über viertehalbhundert Jahre alle Vortheile der unveräußerlichen Menschenrechte genießt, und sich hier an unsrer Spitze unterzeichnet, denn auch er wünscht mit uns in der alten demokratischen Verfassung bleiben zu können.

Aber, wie wurden wir überrascht, als auf einmal eine uns bisher unbekannte Konstitution erschien!

Erlaubet uns, Bürger Direktoren, daß wir Euch hierüber unsre Empfindungen mit derjenigen

Offenheit anzeigen, die sich für freie Menschen so wohl schikt.

Vor allem aus müssen wir fragen: warum will man uns demokratisiren? ist unsre Verfassung nicht schon demokratisch genug? ist unser Volk nicht der einzige Souverain, der die Gesetze macht, und seine Obrigkeiten erwählt nach einem repräsentativen System, das schwerlich reiner ausgedacht werden könnte? Das sind Wahrheiten, die nicht zu widerlegen sind; wir hoffen daher, Bürger Direktoren, Ihr werdet unsern einzigen, unschuldigen Wunsch billig finden, daß wir in unserm Ruhestand bleiben, und uns regieren können nach dem Muster der Urväter, die Ihr so hoch schätzet, und unsrer Brüder in den demokratischen Kantonen, die Ihr nicht weniger schätzet.

Ueberdas verträgt sich diese Konstitution allerdings nicht mit unsern Lokalverhältnissen, Naturanlagen, Charakter, und besonders jener einfachen Armuth, die für ein Hirtenvolk ein wahrer Reichthum ist; denn sie ist eigentlich nur eine Einschränkung der künstlichen Bedürfnisse und die

Zufriedenheit mit seinem Schiksal. Hingegen diese Konstitution, vielleicht anwendbarer auf reichere Länder, würde in wenigen Jahren unsre ländliche Haushaltung zu Grund richten. Und wäre dies nicht unser größtes Unglük, und das unverträglichste Leid, das man uns anthun könnte? Und Ihr solltet uns ein solches Unglük und den Ruin unsrer Kinder durch eine gezwungene Annahme derselben Konstitution bereiten wollen?

Nein! das könnet Ihr nicht, Bürger Direktoren; Eure aufrichtige, und, daß wir so sagen, alt-fränkische Gesinnungen, (wir finden kein besseres Wort, uns angemessen auszudrükken,) Eure republikanischen Grundsätze, Eure gerechte Maasregeln, Eure unverlezliche Gradheit, alles schüzt uns vor dergleichen Zumuthungen, die man uns in Zukunft machen könnte.

Hier in diesen wenigen Zeilen leset unser Verlangen, unsre Wünsche, und unsre Hoffnungen. — — Werdet Ihr uns erhören? Ja! Ihr werdet es — — und dann werden auch wir nicht aufhören, in Euch und in der grossen Na-

tion, deren Stelle Ihr so würdig vertretet, die unerschütterliche Stütze der schweizerischen Freiheit zu verehren.

Schwyz, den 5. April 1798.

Republikanischer Gruß und Achtung.

Die Kantonen, Landschaften und das Volk von Appenzell, inner und ausser Rhoden, Landschaft und Stadt St. Gallen, Toggenburg, Rheinthal und Sargans, und in deren Namen die Repräsentanten:

Bischofberger, Spieß, Künzle, Meyer, Bolt, Dudly, Gschwend, Bernold.

---

3.

Als die Abgeordneten der verbündeten Eidsgenossen unverrichteter Sache zu ihren Heimathen zurükgekommen waren, nahm die Wuth des Volks überhand. Vom Waldstätter- bis zum Boden-See, durch die ganze Kette der Hochgebirge loderte der helle Zorn auf. — Was irgend Leidenschaften wekken, Schwärmerei verbreiten konnte,

ward aufgeboten. In wilder Begeisterung predigten Väter und Mütter ihren Kindern den Tod fürs Vaterland. Mönche verliessen ihre Zellen, Hirten ihre Heerden. Jene riefen den Fluch des Himmels über die Mörder der Freiheit und Religion; diese sprachen Prophezeiungen. Die erhizte Einbildungskraft sah Wunder und Zeichen. Die Tage von Morgarten und Näfels schienen wieder angebrochen zu seyn; Frankreich stand nun an der Stätte Oesterreichs; der Freiheitsbaum war es wieder, vor welchem sich die Tellen beugen sollten, wie vor Jahrhunderten geschehn, und der fränkische Heerführer mit seinen Gefährten war der verabscheute Gesler mit den tyrannischen Landvögten. *)

*) In den Gemälden, weit älter als die fränkische und helvetische Revolution, ist Wilhelm Tell immer in die heutigen helvetischen Nationalfarben (grün, roth und gelb) gekleidet. Aber seltsam ists, daß sich dabei der verhaßte Landvogt Gesler mit seinen Gesellen in der fränkischen Nationalfarbe (roth, blau und weiß) präsentirt. In Wilhelm Tells Kapelle zu Bürglen in Uri und an andern Orten sieht man dies noch jezt; vielleicht daß mancher Landmann daraus eine böse Deutung gezogen.

Lecarlier und Schauenburg, unbekümmert um den Zorn, um die Verzweiflung der Gebirgsvölker, eilten ihr Werk zu vollenden. Der Regierungs-Commissär schrieb folgendes Proklam an die Bewohner der Kantone Schwyz, Zug, Uri, Glarus, Appenzell, Nidwalden, und an die Bewohner der Stadt und Landschaft St. Gallen, so wie auch an die Distrikte, welche den neuen Kanton von Sargans ausmachen sollten: *)

„Bürger,

„Ich habe Euern Abgeordneten den ausdrüklichen Willen des fränkischen Direktoriums zu erkennen gegeben. Sie werden Euch denselben mittheilen. Ihm widerstreben zu wollen, wäre Euerm Interesse, wäre der Klugheit entgegen gehandelt. Euer Wohl, Euere Ruhe erfodern die innigste Vereinigung mit den übrigen Theilen der Schweiz; der gesellschaftliche Vertrag, der Euch an denselben anschliessen soll, ist Eurer Lage angemessen. Sollte er auch hin und wieder einiger Berichtigungen bedürfen, so wird die neue gesezgebende Versammlung dieselben ausführen.

*) Bern, Hauptquartier, 22. Germinal VI. (11. April 1798.)

Bürger, man hat Euch gegen die neue schweizerische Verfassung einzunehmen, man hat sie Euch mit den häßlichsten Farben zu schildern gesucht. Menschen, die ihrem Privatinteresse das Glük und die Ruhe des Vaterlandes aufopfern wollen, haben Euch gesagt, diese Verfassung benehme Euch Euere Freiheit, schränke Euern Handel, Euere Viehzucht ein, überlade Euch mit öffentlichen Abgaben, und zerstöhre die Gewissensfreiheit. Ich will Euch mit Wahrheit und Offenherzigkeit über alle diese Punkte belehren."

Die Souverainität bleibt immer in den Händen des Volks, weil die Wahlmänner, welche die öffentlichen Beamten ernennen, durch dasselbe gewählt werden müssen. Diese Regierungsform, indem sie dennoch demokratisch bleiben wird, hat unter andern den Vortheil, Unordnungen und Zügellosigkeiten zu verhindern."

„Die neue Konstitution, weit entfernt, Euern Handel und Euere Viehzucht einzuschränken, wird Euch neue Ansprüche auf Frankreichs Freundschaft geben, und Euch mit der grossen Republik neue Hülfsquellen eröffnen. Die Abgaben werden nicht im Verhältniß mit den öffentlichen Beam-

ten, die Ihr zu ernennen habt, und die aus dem allgemeinen Schatz bezahlt werden, sondern nach Eurer Lage und Euern Hülfsmitteln erhoben. Da ferner die Konstitution ausdrüklich die Gewissensfreiheit festsezt: so ist jeder Zusaz in diesem Betreff überflüssig.“

„Ich glaube nun die Haupteinwürfe gegen die neue schweizerische Verfassung auf eine Art beantwortet zu haben, die mich hoffen läßt, Ihr werdet durch ihre Annahme Euch die unzählbaren Uebel ersparen, die im entgegengesezten Fall Euch bedrohen, und eine längere Weigerung Euch unfehlbar zuziehen würde.“

„Lecarlier.“

Schauenburg, als Krieger, begleitete mit dem Schwerdte diese Lehre. Am gleichen Tage verkündete er in einem Flugblatt, daß die Priester und Obrigkeiten der Landschaften St. Gallen, Toggenburg und Appenzell, so wie auch der Kantone Zug, Glarus, Uri, Schwyz und Nidwalden mit ihren Köpfen für die öffentliche Sicherheit haften sollten, und daß, wenn binnen zwölf Tagen nicht in obgemeldeten Ländern die Urversammlungen über Annahme der neuen

Konstitution zusammengerufen seyn würden, die Priester und die Regierungen als Mitschuldige der schon gestürzten Oligarchen angesehn und behandelt werden sollten.*) Ihres Zweckes aber noch gewisser zu seyn, und den Gebirgen ihre Abhängigkeit von der Ebne, bei jedem Versuch einer Trennung, fühlbarer zu machen, verordneten sie zugleich eine strenge Sperre gegen das Hochland.

Weit entfernt, den Troz der Bergbewohner zu beugen, reizten alle diese Drohungen nur derselben Wuth und Stolz. Seit Jahrhunderten von den europäischen Mächten, als selbstständige Freistaaten, mit Würde behandelt, hörten sie sich hier von einem Agenten der fränkischen Regierung, ohne Ursach, Rebellen und Schwärmer genannt. Frankreich, welches selbst nach dem Vorbilde der schweizerischen Republiken Freiheit und Rechtsgleichheit verkündet hatte im Angesicht der Welt, kam, das Vaterland Tells zu verwüsten, welches seine Freiheit nicht hingeben wollte auf einen Machtspruch des Fremdlings; Frankreich, welches nur Krieg

*) Hauptquartier Bern, 22. Germinal VI.

den Thronen, Friede den Hütten gepredigt hatte, erschien mit gewaffneter Faust vor den armen Hütten jener Hirten, deren Glükseligkeit längst beneidenswürdig hies; — Frankreich, welches noch vor wenigen Wochen den Demokratien Frieden und Dauer der Freundschaft verhies, und daß es die Bande nicht brechen wolle, welche die schweizerischen Hirtenstaaten mit der grossen Republik vereinten, fiel die getäuschten Völkerchen an, welche, wenn nicht vom Sittlichkeitsgefühl der fränkischen Machthaber, doch von ihrem Stolze erwartet hatten, daß sie neben Waffenübermacht sich niedriger List schämen würden.

Nicht weit von da, wo der Muttastrom zwischen hohen Ufern aus dem rauhen Waldthale hervorrauscht, in einer romantischen Gegend unter niedrigen Hügeln, im Angesichte des ungeheuern Gebirgskranzes, welcher das Hauptthal von Schwyz umrankt, ist ein erhabnes Plätzchen, von den Zweigen uralter Bäume überschattet. In der Nähe liegen die Hütten von Ibach und seine Brükken über den Strom. Eine Viertelstunde ferner der Hauptort des Freilandes am Fuße des prächtigen Haggen-Bergs. Dort war der Ort,

wo sich seit Jahrhunderten alljährlich das freie Hirtenvolk von Schwyz zu versammeln gewohnt war, um in offner Landsgemeinde als Souverain zu sprechen über des Vaterlandes Angelegenheiten; dort hatte die Vorwelt ihren Freiheitsschwur geschworen unzähligemahl; dort fühlte sich der Schwyzer in seiner Kraft, in seinem Stolze, in seiner Glükseligkeit — und dort war es, wo nun am 16. April des Jahres 1798 die Staatsbürger in ausserordentlicher Landesgemeinde über die Auflösung ihrer alten Verfassung befragt wurden. Sie hörten den mündlichen Bericht ihrer nach Paris verordnet gewesenen, aber schon von Bern aus mit Drohworten zurükgewiesenen Gesandten; sie hörten die Proklamationen der gebieterischen Befehlshaber der Franken. —

Das Entsetzen schien einen Augenblik alle Zungen zu lähmen. Eine fürchterliche Stille herrschte über den Tausenden. Keiner konnte den Gedanken fassen, daß es möglich sey, so zu fodern, noch weniger, solcher Foderung zu entsprechen. Seit einem halben Jahrtausend des Glüks unbeschränkter Freiheit genossen haben, und es aufopfern sollen in einem Augenblik, auf das Zür-

nen eines Ausländers hin — sich entschlagen einer Landesverfassung, die jeder als den Quell seines Wohlstandes, seines frohen Lebensgenusses, als das schönste Erbtheil seiner Ahnen ansah, welches einst auch wieder die beste Hinterlassenschaft für den Enkel seyn sollte — ein Kleinod vertauschen, schon lieb- und heilig, weil es mit Heldenblute errungen, von den Vätern stammte; vertauschen, unter Bedrohung von Waffen- und Hungertod, gegen ein Gut, so niemand kannte, und in den blutigen Händen des schrecklichen Gebers am wenigsten lokte — dies hätte das schlaffeste Volk nicht gleichgültig ertragen.

Eine wilde Raserei bemächtigte sich der Versammelten. Das Geschrei der Menge stieg gen Himmel. Jeder redete, keiner hörte mehr. „Wie, rief man, sind das jene so oft, so feierlich wiederholten Versicherungen von Freundschaft und Frieden? — Ist das die Freiheit, um welche wir die unsre dahingeben sollen? — Was haben wir dem Franken gethan, daß er uns an will? — Wer ist er, daß er uns Gesetze schreiben will? — Das Blut unsrer Väter, ists vergebens geronnen? — Haben wir nicht Blut, haben wir nicht Arme, nicht Herzen? —“

Mitten in diesem Sturme erhob sich die ganze Landsgemeinde. Das Volk schwur unter freiem Himmel zu Gott und allen Heiligen den feierlichsten Eid: „Gott allein sey unser Herr! wir dienen keinem andern! und wollen für Religion, Freiheit und Vaterland mit Freuden Leib und Leben, Gut und Blut aufopfern; wollen lieber als Christen und freie Schweizer sterben, denn fremdes Joch unsern Kindern aufladen!“

In den Augen der Greise und der Jünglinge funkelten Thränen der Wuth und des Schmerzens. — Solche Thräne entehrt die Wange des freien Mannes nicht.

Das Volk warf nun seinen Fluch auf das Büchlein von der neuen helvetischen Konstitution, und befahl jeden, er sey geistlichen oder weltlichen Standes, welcher öffentlich oder in geheimen Zusammenkünften diese Konstitution oder derlei Schriften anrathen, loben, oder als gut auslegen würde, wie einen Staatsverbrecher zu greifen und dem Malefizgerichte zu überantworten.

Das Land in Vertheidigungsstand zu setzen

ward ein Kriegs-Rath ernannt *) aus sechs Gliedern, bevollmächtigt, sich sechs andre Landleute, als Miträthe, beizuordnen. — Beim Vaterlandseid war jedermann verbunden, den Befehlen des Kriegs-Raths zu gehorchen in allem. — Es ward ferner verordnet, daß alle streitbare Mannschaft täglich in den Waffen geübt werden solle, daß die übrigen sich zum Schanzen bereit halten müssen. Allen Schwyzern ausser der Heimath, aber doch inner den Gränzen der Eidsgenossenschaft, wurde geboten, bei Verlust des Vaterlandes, nach Hause zu kommen.

Diese Landsgemeinden-Beschlüsse wurden sofort vollzogen, und durch Eilboten an alle jene Stände und Landschaften versandt, welche bei der lezten Zusammenkunft in Schwyz ihr Wort der

*) Mitglieder desselben waren: der Landeshauptmann Aloys Reding, Benedict Bellmond, David Städeli, Hauptmann Dominik Büeler, Hauptmann Ludwig Auf-der-Maur, und Hauptmann Werner Hettlinger. — Die sechs vom Kriegs-Rathe sich zugeordnete Landleute waren: Math. Bürge, Richter Fr. Schnüriger der jüngre, Vorsprech Aloys Frischherz, Richter Ecberg, Kirchenvogt Josef Auf-der-Maur, und Kastenvogt Werner Suter.

Treue und des Beistandes gegeben hatten. Sie wurden aufgefodert, sich nun zum Kampf zu rüsten, und Mitglieder zum schwyzerischen Kriegs-Rath zu senden, um vereint gegen den gemeinschaftlichen Feind den Plan zu entwerfen.

Noch an demselben Tage erschienen vor dem kaum erwählten Kriegs-Rathe mehrere Abgeordnete von dem obern und untern freien Amt, und aus dem Luzerner Kanton, die, laut Auftrag ihrer Gemeinden, den Wunsch äusserten, mit Schwyz gemeinsame Sache zu machen. Der Enthusiasmus schien die ganze Schweiz zu beseelen, welche noch nicht von fränkischen Waffen gelähmt war, und das Schikſal der Eidsgenossenschaft nur von einem grossen, glüklichen Schlage abzuhängen, durch welchen alle Völkerschaften Helvetiens gewekt, zu gleicher Stunde gegen das Heer der Fremden auf dem vaterländischen Boden sich erheben würden.

Luzern hatte inzwischen, gemäs dem Befehle Lecarliers, gegen die Schwyzergränzen zur Handhabung der verordneten Sperre, Mannschaft ausgestellt, und lies auf dem See zu gleichem Zwek ein bewaffnetes Schiff segeln. Darum sandte

Schwyz sogleich das dritte Bataillon, nebst hundert Scharfschützen, unter Anführung des Hauptmanns Karl Fäßler, gegen die Luzerner Gränzen bei Küsnacht. *) — Luzern fürchtete den Bürgerkrieg. „Wir haben nicht aufgehört, eure Freunde und gute Nachbarn zu seyn, schrieb Luzern an Schwyz: wenn wir uns gleich, in Gemäßheit der von uns angenommenen neuen Konstitution, nicht dem Ansinnen des fränkischen Regierungs-Commissär Lecarlier entziehn konnten, unsre Gränzen mit einem geringen Cordon zu besetzen.“

Schwyz antwortete: „Es kann die Ruhe bei uns nur hergestellt und befestigt werden, wenn ihr mitwirket, daß die Bande der eidsgenössischen Freundschaft nicht nur nicht aufgelöst, sondern durch Beibehaltung unsrer Verfassung noch enger geknüpft werden.“

---

## 4.

Die Seele des neuen Kriegs-Bundes gegen Frankreich war Schwyz. Hier war kein Wankens mehr

*) Den 18. April.

mehr in der Wahl zwischen Tod und Schande; hier kannte niemand die Furcht und das Schrekken, welches Frankreich der halben Welt für sich einzuflössen gewußt hatte; hier wog niemand die Macht des Feindes gegen sein Unrecht — in jedem galt das Gefühl der Unschuld und des gekränkten Vaterlandes eine Armee. Hätte gleicher Heldengeist, gleiche Eintracht alle Eidsgenossen beseelt; so würde Schauenburgs Heer sein unvermeidliches Grab in den Alpen gefunden haben.

Aber selbst nicht einmahl alle diejenigen Landschaften und Kantone, welche noch vor wenigen Tagen zu Schwyz die feierlichsten Gelübde des Beistandes in Noth und Tod gethan, blieben dem Worte treu. Selbstsucht, Nebenvortheile, Eifersucht, Ortsgeist und alle andre Erbfehler des Föderalismus trennten damahls Kanton von Kanton, Dorf von Dorf. Nicht Schauenburgs Brigaden, sondern die Gebrechen des Bundessystems zerstöhrten die Eidsgenossenschaft; auch ohne Frankreichs Zuthun war ihr Untergang gewiß.

Die Männer, so von Schwyz ausgesandt waren, die Stimmung der Gemeinden in den

obern und untern freien Aemtern zu erforschen, kamen mit frohen Botschaften heim. Sie brachten von den meisten Gegenden jener Landschaften die schriftliche Zusage zurük, daß sie mit den fünf alten demokratischen Kantonen halten und Wohl und Weh, wie Brüder, theilen wollten.

Nicht so aufmunternd lauteten die Nachrichten von St. Gallen und Rheinthal, Toggenburg und Appenzell.

Die alte Landschaft St. Gallen erklärte, daß sie mit Freuden dem bundesmässigen Ansuchen von Schwyz entsprechen würde, wenn sie nicht durch eigne Gefahr gebunden wäre. Denn es hätte das benachbarte Thurgau die neue Konstitution angenommen, und mehrere hundert Mann Truppen gegen die St. Gallischen Gränzen ausgestellt. Sie selbst wäre kaum stark genug, ihr eignes zehn Stunden langes Gebiet hinreichend zu schirmen.

Die Stadt St. Gallen stimmte gleiche Klage an. Ihre eigne bedenkliche Lage machte

ihr unmöglich, entfernten Freunden Hülfe zu wiedmen.

Das Rheinthal hatte in offner Landsgemeinde zwar dem lezten Gemeindsbeschluß von Glarus beigestimmt, die Freiheit und Unabhängigkeit des Vaterlandes mit Gut und Blut zu schirmen; aber einen Zuzug von Hülfstruppen könnte es den fünf Bergkantonen nicht senden, so lange es in Gefahr stände, von den Thurgauern überfallen zu werden, andrerseits im Dunkeln wäre, über den Entschluß von Appenzell, von Toggenburg, von der alten Landschaft und Stadt St. Gallen, dem Sarganserland, Gaster, Uznach und der Landschaft March. Wenn es für sich selbst beruhiget seyn würde, wolle es gern den fünf Orten seine Völker senden; inzwischen begnüge es sich, zum Kriegs-Rath nach Schwyz zwei Offiziers, als Mitglieder, abzuordnen. *)

Katholisch Toggenburg berichtete, es könne nicht entscheiden, ob Beistand senden, oder nicht,

*) Diese kamen zwar; der Kriegs-Rath der fünf Orte entlies sie aber sogleich wieder.

bis seine Gemeinden bestimmt über Annahme oder Verwerfung der neuen Konstitution abgemehrt haben würden. *)

Appenzell schrieb: es habe mit Entschlossenheit wider den Wechsel der Staatsverfassung entschieden. Demungeachtet könne es an dem gemeinschaftlichen Kriegsentwurfe nicht mitarbeiten, theils weil es seiner Hauptleute keinen, zur Sendung in einen entfernten Kriegs-Rath, entbehren, theils weil es vorher erfahren möchte, wie Toggenburg gegen Appenzell gesonnen sey. Zudem hätten vier Gemeinden des Appenzells die neue Konstitution angenommen, und damit Zwiespalt und Verwirrung ins Innre gebracht.

So waren plözlich viele der sichersten Hoffnungen Waldstättens vereitelt. Nur die kleinen Gelände von Sargans und Uznach, dem Gaster und der March blieben standhafter.

Sargans erklärte, es wolle nicht lassen vom Bunde der Eidsgenossen, und mit seinen geringen Kräften die Sache des Vaterlandes vertheidigen helfen. — Uznach machte sich anheischig, einen

*) Nahm die Konstitution an.

Zuzug von 800 Mann zu schikken. — Gaster sandte wirklich statt aller Antwort seine vier ersten Aufgebote gen Schännis, sich mit dem Heer der Berg-Kantonen zu vereinen.

So blieben sich nun im Augenblikke der grossen Gefahr die fünf alten Orte von Uri, Schwyz, Unterwalden, (nid dem Kernwald,) Zug und Glarus allein überlassen.

---

5.

Aber auch diese, mehr einzeln, für sich, als für das Ganze in Kummer, schienen kein festes Verbindungsmittel ihrer Vortheile zu kennen. Es war ihnen mehr Ernst, Hülfe zu begehren, als zu leisten. Kein grosser, allumfassender Geist leitete sie. Sie fühlten nur das Bedürfniß ihrer engen Heimath.

Noch ehe der Krieg mit seinen Schrekken heranzog, bot Nidwalden schon den Beistand von Schwyz auf, *) um gegen Obwalden gedekt zu seyn, welches, wie wir erzählt haben, der

*) Den 17. April.

helvetischen Republik beigetreten war. Schwyz indessen lies nicht vergebens rufen. Es sandte zwei Glieder des Kriegs-Raths *) gen Unterwalden, die Lage der Dinge zu erkunden; verordnete das zweite Bataillon, so Aloys Gwerder anführte, nach Brunnen am See, um bei jedem Wink nach Unterwalden schiffen zu können, und bot ausserdem noch den Stand von Uri auf, für Unterwalden das gleiche zu thun.

Uri aber zauderte. Dort waren die Führer des Volks zwistig, und wankend in ihren Entschlüssen. Dies Land, rings von ungeheuern Schneegebirgen und einem unsichern See begränzt, schien gegen jeden feindlichen Ueberfall verrammelt, durch eine Handvoll Helden gedekt, sich selbst genug seyn zu können. Darum zweifelte es lange, ob es eintreten solle in den ausserheimathlichen Krieg.

Diese Unentschlossenheit der ältesten Bundsgenossen verdros dem Feuergeist der Schwyzer, welcher, seiner eignen Schwäche uneingedenk, die ganze Eidsgenossenschaft zu schirmen beschlossen. Er lies keine Zwietracht im Innern reifen; sah

*) Jak. Zweyer und Jos. Franz Ab-Iberg.

kein Opfer mehr an, um Stärke gegen den Zerstöhrer der Eidsgenossenschaft zu gewinnen. Denn als die Bei = und Insassen von Schwyz den Wunsch blikken liessen, daß auch sie künftig mit den alten, eingebohrnen Staatsbürgern von Schwyz gleicher Landesrechte theilhaftig seyn möchten, indem sie doch jezt gerüstet daständen, für die Erhaltung derselben ihr Leben zu wagen, ward ihr Begehren unmittelbar erhört. Die vereinte Landsgemeinde *) selbst erklärte: „Alle Beisassen, welche zu den schwyzerischen Freifahnen schwören, und mit ihnen fürs Vaterland schon ausgezogen sind, oder noch ausziehn werden, sollen, nebst ihren Kindern und Nachkömmlingen, als gefreite Landleute erklärt und angesehn seyn. Die aber nicht mitziehn, sollen um einen billigen Einkauf an die Commission gewiesen werden, welche das Abgeschloßne der Maien-Landsgemeinde zur Bestätigung vorlegen wird. Auch die armen, presthaften und unmündigen Beisassen sollen zu seiner Zeit billig bedacht werden.“

Inzwischen waren von den Berg = und Waldkantonen die berufnen Mitglieder zum eidsgenöss=

*) Den 18. April.

sischen Kriegs-Rath in Schwyz erschienen. Unterwalden hatte den Meinrad Fäller und Jos. Maria Christen gesandt; Zug den Hauptmann Aloys Staub und Hauptmann Hürliman von Walchwylen; Glarus den Obrist Paravicini und seinen Sohn Emil. — Nur Uri beharrte in gefährlichem Schweigen — niemand erschien von daher, und selbst ein dahingesandter Eilbote brachte nur ungewissen Trost zurük. *) Mit Unwillen gemischtes Erstaunen füllte den Kriegs-Rath; doch Uris Hand war ihm zu wichtig. Es eilten aus seiner eignen Mitte sogleich mehrere Glieder dahin, das Volk zu bewegen, nicht länger in Abwehrung der Gefahr zu säumen, sondern Hülfe zu senden auf Unterwalden, und bevollmächtigte Abgeordnete zum gemeinsamen Kriegs-Rathe. — Der Schritt war nicht ganz vergebens. Wirklich befehligte die Urner Landsgemeinde einige Mannschaft nach Nidwalden, und zwei Männer **) nach Schwyz, dem Kriegs-Rathe beizuwohnen.

Jezt glaubten die vereinten Eidsgenossen, ihr Werk beginnen, ihren Plan zur Rettung der

* Den 19. April.

**) Landshauptmann Schmid, und Statthalter Aloys Müller.

schweizerischen Hochgebirge entwerfen zu können. Alle Stimmen entschieden sogleich für den Angriffskrieg. Da weigerten sich die Gesandten von Uri abermahls, dem Gedanken beizustimmen, aus Mangel an hiezu nöthiger Bevollmächtigung von Seiten ihres Standes. —

Nochmahls war nun der Kriegs-Rath gezwungen, Boten gen Altorf zu schikken, um die fehlende Bevollmächtigung auszuwirken. — Der Landrath von Uri aber antwortete: „Da er vernehme, daß man einen weitaussehenden auf das Wohl oder Wehe des gemeinsamen Vaterlandes mächtigen Einfluß habenden Operationsplan entwerfen wolle; so habe er gefunden, daß man die begehrte Vollmacht nicht wohl ertheilen könne, um so weniger, da das von leztgehaltner Landsgemeinde dem Stand Unterwalden bewilligte Hülfsvolk nur zur Vertheidigung dieses Landes und zu keinen weitern Schritten bestimmt sey. Zugleich müsse er dem Kriegs-Rath zu Schwyz den Wunsch eröffnen, daß die Mitglieder von Uri in demselben sobald als möglich wieder entlassen werden möchten, da sie zur höchstnöthigen Veranstaltung eig-

ner Vertheidigung in Uri fast unentbehrlich wären.

Die Eidsgenossen lasen das Schreiben, und entliessen mit kummervollem Herzen die Mitglieder von Uri.

Welche Ahndungen, welche Aussichten in die schwarze Zukunft, da, das Schwerdt der Gefahr über ihren Scheiteln, nichts die ältesten Bundesbrüder zur Einheit bewegen konnte!

---

6.

Der grosse Tag, an welchem sich das Verhängniß der Schweiz entwikkeln sollte, rükte unaufhaltsam näher. Die fränkischen Brigaden sammelten sich, und zogen in verschiednen Richtungen gegen das Hochland der Schweiz, es aufzunehmen im Kampfe mit den Nachkommen Tells.

Erst jezt empfanden die Eidsgenossen ihre Schwäche. Muth der Einzelnen mußte die Zahl ihrer Streiter, Enthusiasmus ihren Mangel in Waffenübung, Verwegenheit ihre Unkunde in Kriegskunst ersetzen. Alles, was die Gemüther

entflammen konnte, wurde nun in Bewegung gebracht. Der Beredsamkeit der Pfaffen ward freie Bahn gelassen; mit fanatischer Wildheit donnerten sie von Kanzeln und Stühlen den Krieg gegen Frankreich, welches nicht nur Völkern der Erde, sondern dem Himmel selbst Krieg biete. Freifahnen wurden emporgepflanzt; der Tod unter ihnen verhies der Gläubigen Menge offne Pforten des Paradieses.*) Vaterlandslieder, von kriegerischer Musik begleitet, wurden in Hütten und auf den Feldern gesungen.**) Alles athmete Rache, und Todeslust furs Vaterland.

*) Freifahnen hiessen solche Panner, unter denen sich allerlei Volks, so für die gleiche Sache dienen wollte, dem Heere anschliessen konnte. Sie waren meistens mit Heiligenbildern geziert, und mit Inschriften, welche den katholischen Landmann zum Krieg ermuntern konnten, wie z. B.: Wer unter dieser Fahne streitet, hat vollkommene Absolution u. s. w.

**) Das Lieblingslied der Schwyzer, besonders der Gebildetern und Hauptleute, mit welchem sie gegen die Franken ins Gefecht rükten, war ein wenige Jahre vorher in Bern von Hornschuh herausgegebnes mit Musik begleitetes Schweizerlied von Zschokke.

Der Kriegs-Rath der Waldkantonen säumte nicht, mit dieser Stimmung des Volks die Ausführung seiner Entwürfe zu verbinden.

Das gesammte Heer der Eidsgenossen aber, welches sich den Franken entgegenstellte, stieg kaum über die Zahl von zehntausend Mann.

Mit dieser geringen Macht wollte man es nun wagen, nicht nur die eigne Heimath gegen einen an Kunst und Stärke überlegnen Feind zu schirmen, sondern selbst die gesammte Schweiz zu erschüttern, die Völker derselben aufzurühren, die neu-helvetische Republik zu zertrümmern, und die alte Eidsgenossenschaft herzustellen. — Und wahrlich ein einziger allgemeiner Sieg von ihrer Seite, eine einzige Niederlage der Franken, die damahls vielleicht nicht dreissigtausend Mann anwendbarer Truppen in der Schweiz hatten, würde hingereicht haben, den verwegnen Plan auszuführen. Ueberall herrschte Mismuth und Gährung gegen die Fremdlinge; überall wünschte man ihren Untergang. Nie fühlten die Schwyzer ihre Blutsverwandschaft und den alten Nationalstolz lebhafter, als in dem Zeitpunkt, da die Waldkantonen unerschrokken gegen die Franken

auszogen. Selbst in den Freunden der Revolution glühte noch stärker die Liebe für Nationalehre, als für Staatsveränderung. Eine Umschaffung der Eidsgenossenschaft ohne fremde Einmischung war der Wunsch der grössern Hälfte auch des schon revolutionirten Helvetiens. Die Flucht der Besieger Berns wäre das Lärmzeichen zum allgemeinen Aufstand der Landschaften, und zur Vernichtung der Franken in allen Dörfern und Feldern geworden.

So sehr auch den Eidsgenossen am glüklichen Erfolg ihrer ersten Schritte gelegen seyn mußte, versäumten sie dennoch gleich Anfangs diejenigen Maasregeln, welche ihnen allein Bürge des Waffenglüks werden konnten. Während die Franken ihre Truppen von Bern ausdehnten bis an die Ufer der Thur, wäre es den Eidsgenossen leicht gewesen, mit Ueberlegenheit sich gegen einzelne Kolonnen des Feindes und in diejenigen Kantone zu werfen, welche nur ihre Ankunft erwarteten, um zu den Waffen zu greifen, und den Fahnen der Waldstätte zu folgen. Sie hatten dabei den offenbaren Vortheil der Gebirgskunde und sichrer Spionen voraus.

Statt dessen aber, wieder vom Geist des Föderalismus verführt, welcher die heimathliche Gränze pünktlich gedekt sehn wollte, mußte sich das Heer der kleinen Kantone in einer Linie von beinah zwanzig Stunden ausgestrekt, auf allen Theilen schwach, der Uebermacht des Feindes blosgestellt werden.

Der rechte Flügel, unter Anführung des Obrist Paravicini, stand an den Ufern der südlichen Spitze des Zürichsees. *) Er sollte im Kanton Zürich vordringen, so wie der Zuger Obrist Andermatt zugleich die freien Aemter besetzen würde. Beide hatten nachher bei Zürich und Bremgarten ihre Vereinigung zu bewirken.

Den Mittelpunkt des Heers befehligte der schwyzerische Landshauptmann Aloys Reding. Er sollte, um die beiden Flügel zu vereinen, die Stadt Luzern wegnehmen, und sich dieses ganzen Kantons versichern. Unter ihm standen 2400

*) Diese Kolonne bestand aus 600 Glarnern, 400 Mann von Sargans, 600 Mann von der March, 402 Mann aus dem Gaster, 200 Mann von Uznach, 500 Mann von Schwyz, und 600 Mann von andern Orten und den Höfen.

Mann Schwyzer, 750 Zuger und 500 Unterwaldner.

Der hohe, mit Waldung und fruchtbaren Wiesen bekleidete Brünig, das Gränzgebirg zwischen dem Bernischen Oberland und Obwalden, war zur Stütze des linken Flügels bestimmt. Dieser bestand aus 800 Mann Nidwaldner, 600 Urnern, 400 Schwyzern, 54 Gersauern, 400 Glarnern, und späterhin gesellten sich auch 600 Obwaldner dazu. Major Hauser befehligte die gesammten Schaaren des linken Flügels. Er hatte den Auftrag, vom Brünig hinab ins Berner Haslithal einzufallen, und Brienz und Thun zu nehmen.

Die Eidsgenossen schikten sich zum Angriff. Nicht müssige Zuschauerin wollte die reiche Abtei Maria-Einsiedeln bleiben. Aengstlich brütete sie über ihren seit Jahrhunderten eingescharrten Schätzen, die bei der Niederlage des Waldstätterheers ein Raub der Franken zu werden drohten. Bisher hatte sie sich begnügt, den Kämpfern des Vaterlandes geistlichen Segen, Ablaß von allen Sünden, und Zeichen und Wunder zu spenden. Umsonst hatte Schwyz noch vor Kur-

zem kräftigern Beistand aus den wohlgefüllten Kisten der Abtei gefodert. Jezt, beim Anzug der Noth, entschloß sie sich freiwillig zu einer Kriegssteuer von 1000 Louisd'ors für die muthigen Vertheidiger des Altars. Sie bot all ihr Silbergeschirr dem Stande Schwyz, und die Vollmacht, Gelder nach Belieben gegen Verpfändung der Klostergüter zu entleihen.

Das ebne Helvetien, welches der neuen Konstitution gehuldigt hatte, sah unterdessen voll banger Erwartung die gegenseitigen Rüstungen, und den Ausbruch eines Krieges, der, beim Sieg oder Untergang der kleinen Kantonen, nur thränenwürdige Folgen haben konnte. So sieht die Schwester den Kampf der Brüder.

Darum wandte sich das neu-helvetische in Arau versammelte Vollziehungs-Direktorium noch einmahl mit ernstlicher Mahnung an die gewaffneten Waldstätte, vor Eröffnung des traurigen Schauspiels.

Also lautete des Direktoriums Zuruf:

„Es

„Es kann Euch nicht unbekannt seyn, daß weitaus die grössere Anzahl der vormahligen eidsgenössischen Staaten eine Verfassung, welche dieselben zu einer einzigen Nation vereinbart, angenommen, und in ihren wichtigsten Bestandtheilen schon wirklich in Ausübung gebracht hat; die eine und unzertheilbare Republik ist feierlich anerkannt und öffentlich verkündet; ihre ersten Gewalten sind in voller Thätigkeit, und die lebhaftesten Wünsche werden erfüllt seyn, sobald die noch nicht vereinten Kantonen sich zum brüderlichen Beitritte entschlossen haben. — Allein statt diese gehoffte Vereinigung nahe zu sehen, hat vielmehr das helvetische Direktorium mit innigem Bedauern erfahren, daß die Einwohner jener Kantone nicht nur für sich gegen die Einführung der neuen Staatsverfassung den lebhaftesten Widerstand äussern, und ihre Ohren aller Belehrung eines Bessern verschliessen, sondern daß sie sogar die angränzenden Kantone, die der helvetischen Republik beigetreten sind, an diesen mit Weisheit gethanenen Schritt durch die entehrendsten Künster der Volksverführung, und nun auch selbst durch gewaltsame Mittel zurükzubringen, und in

den Abgrund, den sie sich selbst bereiten, mit hinein zu ziehen versuchen. — "

„Das Vollziehungs-Direktorium, von dem Zutrauen des Volks, durch dessen Stellvertreter es gewählt ist, umgeben, macht es zu seiner ersten und dringendsten Angelegenheit, die ehemahligen Bundesgenossen desselben von ihrer verderblichen Verirrung zurük zu führen, und wird nicht müde werden, alle Mittel zu erschöpfen, wodurch dieselben über ihren wahren Vortheil belehrt, von der Nothwendigkeit ihres Beitritts überzeugt, und über die Misverständnisse, welche im Wege stehen, aufgeklärt werden können. — Aber die Zeit ist dringend, und der Augenblik kostbar. — Eine furchtbare fränkische Armee rükt gegen die Gränzen der nicht vereinten Kantonen, und bald werden 25000 dieser kriegsgeübtesten Truppen, die halb Europa bezwungen haben, und denen keine Berge unersteiglich, keine Thäler unzugänglich sind, bereit stehen, dasjenige durch Gewalt durchzusetzen, was Klugheit und Vaterlandsliebe mit so mächtigen Gründen von selbst zu thun rathen."

Das Vollziehungs-Direktorium ladet daher den Landrath des Kantons Unterwalden nid dem Wald gleich den Landräthen der übrigen nicht

vereinten Kantonen aufs dringendste und nachdrüklichste ein, unverzüglich Abgeordnete aus ihrem Mittel zu ihm nach Arau abzusenden, damit das Heil ihres Vaterlandes mit denselben berathen, und die ob ihnen schwebende Gefahr noch abgeabgewandt werden könne. Sie werden offne Arme antreffen, um ehemahlige Eidsgenossen zu einer wahren brüderlichen Vereinigung zu empfangen, und den schwachen Zusammenhang, welcht eine verjährte Bundesgestalt gewährte, in ein festes und ewiges Band zu verwandeln; währendem hingegen das Herz jedes helvetischen Bürgers durch den Gedanken zerrissen wird, daß in eben den Thälern, wo für den Anfang der Freiheit so muthig gestritten worden, das Blut eines irrgeführten und schreklich misleiteten Volks für die Sache des Fanatismus und einer übelverstandenen Freiheit fliessen, und unabsehbares Elend im Gefolge des Kriegs über dasselbe gebracht werden sollte. — "

Arau, den 24. April 1798.

Der Präsident des Vollz. Direktoriums,
Lucas Legrand.
Hürner, provisorischer Sekretär.

Der merklich kalte Ton dieses Schreibens, so ganz verschieden von der Eidsgenossen herzlichen Sprache; — das Drohen der Schweizer gegen Landsleute mit einer fremden Macht, und gegen ein Volk, welches seinen ganzen unversöhnlichen Groll wider eben diese Fremdlinge wälzte; — die Vorwürfe gegen die Führer der Berg- und Waldkantone, die es doch nur allein waren, welche durch den Zuruf umgestimmt werden sollten — alles schien mit vielem Fleis angelegt zu seyn, das Direktorial-Schreiben wirkungslos zu machen.

„Wenn zwar dessen Inhalt," schrieb Nidwalden an den Kriegs-Rath von Schwyz (26. April): „uns ein banges Schrekken einjagen sollte, so kann er uns doch nicht im mindesten von unserm, zur Vertheidigung der gerechtesten Sache, für Gottes Ehre und das Wohl der Menschen so heilig gefaßten, Vorsatz abwendig machen."

---

## 7.

Am zwei und zwanzigsten April, da kaum der Tag graute, brachen ohngefähr dreizehn hundert

Mann auf von Unterwalden. Sie zogen in das Land ob dem Kernwald, welches vom Verein der Waldstätte abtrünnig worden. Ludwig Auf-der-Maur, ein junger Schwyzer, den Neapel gebar, feuervoll und unternehmend, und Emil Paravicini, der Glarner, führten den Zug, der Obwalden in den Bund der Waldstätte zurükbringen, und die vortheilhaften Bergpässe des Brünig dem eidsgenössischen Heer gewinnen sollte.

Im Walde, nahe vor dem Dorfe Kerns, standen einige obwaldische Posten. Sie bezeichneten die Ankunft der Waldstätter mit einigen Lermschüssen, welche der Kanonendonner auf Landenberg dem ganzen Thal wiederholte. Den Eingang des Dorfs schienen drei hundert Kernser wehren zu wollen. — Man rükte gegen einander. Der Augenblik schien gekommen zu seyn, wo Bruderblut vergossen werden sollte.

Aber die Stimme der Natur siegte. Das obwaldische Volk wollte nicht streiten zu Gunsten eines gebieterischen Fremdlings gegen ein Volk, mit welchem es seit Jahrhunderten in enger Verwandtschaft zu leben gewohnt war. Es sehnte

sich, versöhnt zu seyn mit den Brüdern. Man sah hin und wieder Thränen zittern in den Augen derer, die sich einst, als Freunde, liebten und erkannten, und jezt einander den Tod rüsteten.

Die Anführer der Truppen von beiden Theilen traten in Unterredung. Die Waldstätter foderten den freien Durchzug über Sarnen gegen den Brünig. Ein Standsläufer flog mit dieser Foderung an die obwaldische Regierung im Hauptort Sarnen, und noch ehe er heim kam, war zwischen den Truppen schon die alte Brüderschaft hergestellt. Die vorher noch Kampffertigen drängten sich freundschaftlich unter einander. Es war nicht mehr an Widerstand zu gedenken. „Wir fechten an eurer Seite, liebe Brüder,“ riefen die Obwaldner: „und behalten unsre alte, liebe Verfassung!“

Die Regierung in Obwalden, welche, ihr Land vor den Greueln des Kriegs zu bewahren, beim Anblik der Uebermacht Frankreichs und der Eidsgenossenschaft stürmischen Auflösung, das Volk zur Annahme der neuen Konstitution hatte bereden können, sah jezt, beim drohenden Anrükken der Eidsgenossen und der allgemeinen Stimmung

des Volks, ihre Entwürfe zerrissen. Sie sandte den Waldstättern eine Deputation entgegen, und bewilligte den Durchzug zum Brünig, welchen sie nicht wehren konnte.

Aber die Waldstätter, damit noch nicht zufrieden, foderten den Sarnischen Kriegs-Rath auf, das Volk zur Landsgemeinde zu versammeln, daß es sich frei erkläre, ob es geneigt sey, den Franken und der neuen Konstitution, oder der alten Verfassung und den Schweizern beizustehn.

Die Antwort des Volks war leicht voraus zu entscheiden. Während sich die Eidsgenossen beschäftigten, die Gebirgsschlüfte des Brünig zu besetzen, sprach das Volk von Obwalden in der Landesgemeinde seine Verwerfung der neu-helvetischen Konstitution aus.

In folgender Urkunde *) ward diese schnelle Revolution dem Rath von Nidwalden gemeldet:

*) Ich liefere diesen Brief nicht nur seines merkwürdigen Inhalts willen umständlich, sondern zugleich auch, um den Lesern eine Probe des ehemahligen eidsgenössischen Kanzlei- und Curialstyls bei dieser Gelegenheit zu geben.

„Wir eilen, euch, unsern getreuen, lieben, alten Eidsgenossen die freundeidsgenössische Anzeige zu machen, daß wir bei unsrer heut abgehaltnen Landsgemeind den Entschluß gefaßt, die lezthin angenommene neue helvetische Konstitution nunmehro wieder zu verwerfen, und mit euch, unsern getreuen, lieben, alten Eidsgenossen, und übrigen löbl. Ständen und Orten, welche dieselbe nicht angenommen haben, gemeinschaftliche Sache zu machen. Wie wir nun sehnlichst wünschen und hoffen, daß wir nun so vereint, alle unserm theuren Vaterland drohende Gefahren abwenden, und dessen fernere Ruhe und Wohlstand befördern mögen, so bleibt uns dermahlen nichts übrig, als schließlich den Allerhöchsten zu bitten, daß er seinen reichsten Segen hiezu angedeihen lassen, dessen mächtigster Obsorge wir uns sämmtlich per Mariam eifrigst empfehlen. — Geben den 23. April 1798."

„Landamman, Räth und gesammte Landsgemeind zu Unterwalden ob dem Kernwald."

Bald darauf standen auch 600 Mann von Obwalden unter den Waffen, zur Verstärkung des Heerhaufens am Brünig.

Hier blieben die Truppen einige Tage lang müssig. Jeder verlorne Tag galt ein verlornes Treffen. *) Eine grosse Menge Volks im Bernischen Oberland begehrte mit Sehnsucht die Ankunft der Eidsgenossen. Nichts wäre leichter gewesen, als die Einnahme des Hasli und der damit verwandten Nebenthäler. Nicht Gewalt, sondern Liebe würde die tapfern Gebirgsvölker zwischen der Grimsel und dem Brünig, und die am Fuß des Eiger und Stokhorn, und an den Ufern der Kander und Simmen wohnen, um die Panner der Waldstätte gesammelt, und ihre Schrekken rächend bis vor die Thore des gefallenen Berns getragen haben.

Denn als das Corps am Brünig Befehl empfieng, sich des Hasli zu bemächtigen, und es vom Gebirg hinab in das grosse romantische Thal stieg, durch welches die junge Aar schweift, verwarf sogleich Meyringen, die volkreichste Gemeinde im Hasli, die neu-helvetische Konstitu-

*) Es war untersagt, den Brünig zu überschreiten. Siehe das Schreiben des Landamman und Rath von Nidwalden an den Landshauptmann Zelger vom 23. April.

tion, und erklärte einhellig, in den Krieg gegen die Franken für Eigenthum und Freiheit zu ziehn. *)

Aber da war es schon zu spät, von hier aus dem Feind eine Zerstreuung zu machen. Denn versäumt war die Zeit, in welcher der Aufstand aller Thäler, ihre Bewaffnung, ihre Bildung in grössere und kleinere streitfähige Kolonnen, oder Landstürme hätte ausgeführt werden können.

Fast zu gleicher Zeit, als der linke Flügel seinen Stand an die Berner Gränzen genommen, war auch der rechte Flügel vorgezogen. Der Zuger Obrist Andermatt hatte sich mit 1500 Mann und einer von den Freifahnen in die freien Aemter geworfen, und Meienberg, Muri und Boswyl besetzt. **) Sich weiter auszudehnen, fürchtete Andermatt, um nicht die Gränzen des Zugergebiets zu entblössen. Die Franken rükten ihm zuerst von allen Seiten entgegen. Er erwartete das Vordringen der Eidsgenossen am Zürichsee unter Paravicini, und die Besetzung

*) Am 28. April.

**) Den 24. April.

des Kantons Luzern durch Reding. Unterdessen sammelten sich aus allen Gemeinden der freien Aemter streitlustige Männer, landsturmartig, mit Keulen, Speeren und Hellebarden bewaffnet, zur Freifahne von Waldstätten.

Die fränkischen Vorposten streiften schon bis Dalikon und Häglingen. Andermatt rükte bis Wollen, und schikte den Major Hotz mit 200 Mann gen Niederwyl, des Feindes weiteres Vordringen zu verhindern. *) Er selbst besetzte am folgenden Tage die Anhöhe bei Häglingen, im Angesicht des Feindes. **) Es kam zum Gefecht. Die Zuger Scharfschützen zeichneten sich durch Muth und Geschiklichkeit an diesem Tage gleich vortheilhaft aus. Jauchzend drangen die Eidsgenossen vor. Der Kampf ward blutiger. Die Franken wurden geworfen, und suchten ihren Schuz hinter der vorrükkenden Reuterei. Andermatt befahl den freiämtischen Hellebardirern, dieser entgegen zu gehn. Sie aber ergriffen muthlos die Flucht. Verstärkt zogen die Franken zum neuen Angriff vor. Andermatt war gezwungen, in Eil

*) Den 25. April.

**) Den 26. April.

und Verwirrung, so gut er konnte, nach Muri zu ziehen mit seinen Leuten. So groß der Verlust der Feinde durch die Scharfschützen gewesen, so gering war die Zahl der gefallenen Eidsgenossen. *)

Der Kriegs-Rath der Waldstätten hatte sich, um dem Heere näher zu seyn, nach Küsnacht am Luzernersee begeben. Sobald er Andermatts Rükzug vernahm, sandte er ihm ein frisches Bataillon, vom Kommendant Reichenbach geführt, zu Hülfe, welches die Flüchtlinge sammeln und den Muth der Zuger-Schaar beleben sollte.

Auch Paravicini am Zürichsee war in Bewegung. Dort hatte die Stadt Rapperswyl die neu-helvetische Konstitution angenommen, und den Verbündeten mithin einen festen Punkt, und die Verbindung beider Ufern durch die Brükke über dem See geraubt. Die erste Unternehmung der Eidsgenossen war daher nothwendig Einnahme dieser Stadt, und Verbindung der See-Ufer. Sie gelang ohne Schwierigkeit. Rapperswyl,

*) Schreiben des Obrist Andermatt an Amman und Rath des Standes Zug. Hauptquartier Muri, 26. April 1798.

schlecht vertheidigt, öffnete seine Thore den Waldstättern, welche 700 Mann Besatzung hinein warfen, und damit, so wie hier, auch auf der südlichen Seeseite bei Pfäffikon und Wollrau in den Höfen hart an den Gränzen des Kantons Zürich standen.

Jezt fehlte noch die Einnahme Luzerns durch die Mittel-Kolonne des Heers, um beide Flügel in der vorgeschriebnen Linie zu verbinden. Aloys Reding, der Landshauptmann, stand mit seinen Schwyzern an den Gränzen des Kantons Luzern zu Küßnacht. —

Ungestümm erwarteten die Schwyzer den Tag des Angriffs. Alles verkündete ihren Unternehmungen Glük. Aus den Gemeinden des Kantons Luzern strömte alltäglich Volk herbei, welches ihnen Beifall rief. „Kommet, kommet!“ schrie man: „Euer erster Schritt gegen die Stadt wird die Glokken des Aufruhrs wekken durch alle Thäler. Wir wollen an Eurer Seite in den Kampf ziehn!“

Mehr noch, als dieser Ruf, entflammte die fürchterliche Beredsamkeit einiger fanatischen Geist-

lichen das Kriegsvolk. Längst schon hatten ihrer zwei vor allen andern in den Waldstätten durch schwärmerische Thaten und Predigten geglänzt, und des Landmanns blinden Glauben erworben. Ihr Name ist Marianus Herzog, Pfarrer zu Einsiedeln, und Paul Styger von Rothenthurm, ein Kapuziner. Von diesen beiden Mönchen galt Nestors Rede:

Ohne Geschlecht und Gesez, ohn' eigenen Heerd ist jener,
Wer des heimischen Kriegs sich erfreut, des entsezlichen Scheusals. *)

Paul Styger aber besonders wüthete zu Küsnacht mit seiner Zunge. Er hies das aufgepflanzte Kreuz den wahren Freiheitsbaum, und den Kampf gegen die Franken den Streit mit der Hölle. Zu Pferde sitzend, im Kapuzinerrok, Pistolen in dem Gurt, und Kreuz und Schwerdt in seiner Faust, begleitete er selbst den Heerzug überall. Verschmizt und grausam, stolz und kriechend, geübt im Reden, Menschenkenner und Selbstsüchtling, wußte er sich bald auf die Krieger

*) Homers Ilias IX. 62. 63. nach Vossens Uebersetzung.

mit ihrem Befehlshaber gleichen Einfluß zu verschaffen.

Als nun nicht mehr länger ohne Nachtheil gezögert werden konnte, schikten sich die Anführer zum Aufbruch gegen Luzern, und liessen folgende Verkündung vorausgehn:

„Noch können wir uns nicht mit dem Gedanken vertraut machen, daß die französische Nation, wenn sie gerecht, wenn sie ihren geoffenbarten Grundsätzen getreu seyn will, sollte einen Versuch machen wollen, der sie selbst durch den Widerspruch ihrer Handlungen mit ihren Grundsätzen entehren würde, den Versuch, selbst die freie Volksverfassung der Schweiz umzustürzen; jene Verfassungen, deren Stifter die Franken in den Tempel der Freiheitshelden versezten; jene Verfassungen, die sie selbst zum Modell der ihrigen sich wählten. Welch ein abentheuerlicher Widerspruch! Ja, Schweizer! — ja, Brüder! nur bei unsrer Verfassung ist wahre Volksfreiheit; wir erkennen keinen Oberherrn, als jenen Gott, der über uns ist; wir tragen keine Fesseln, als die sanften Fesseln der Religion und der Sittenlehre; kein Joch ruht auf unserm Nakken, als das süsse Joch der

Gesetze, die wir uns auflegen; — in unsrer Verfassung, nur in unsrer Verfassung liegt nach den Urgesetzen der Natur die höchste Gewalt in den Händen des Volks, dessen Oberherrschaft die französische Republik so oft — so feierlich zu respektiren versprochen hat. — "

„Nun mögen grosse Nationen ihren Verheissungen zuwider handeln. Wir biedern Schweizer bleiben den unsrigen getreu. "

„Er ist gethan, der feierliche Schwur, — gethan zu dem Gott unsrer Väter, zu dem Gott, der das Schiksal der Nationen nach seiner Willkühr lenket. "

„Von dem Gefühl unsrer gerechten Sache durchdrungen, haben wir ihn gefaßt den festen Entschluß, sie bis auf den lezten Blutstropfen zu vertheidigen, — die glükliche Urverfassung unsrer Länder, dafür zu kämpfen, zu siegen, oder zu sterben den schönsten Tod, den Tod für Religion, für Freiheit und Vaterland. "

„Brüder! Schweizer! wer aus Euch von dem gleichen Feuer begeistert ist, — und gewiß

seyd

seyd Ihr es alle, — oder unwürdig, Schweizer zu seyn; — wer von diesem Feuer begeistert ist, der trete unter unsre Fahne, die Fahne der Freiheit; — der reihe sich an unsre Reihen; — der schliesse sich an unsre Glieder an, und Freiheit — wahre Freiheit wird die süsse Frucht seines heldenmüthigen Entschlusses seyn.“

„Nur der bleibe zurük, — nur der entferne sich von unsern Schaaren, der feig, der niederträchtig, der unschweizerisch genug denkt, um seinen Sklaven-Nakken unter ein Joch zu beugen, das schlaue Herrschsucht mit dem Zauber-Netze der Freiheit umwand; und der Herrschsüchtige, und der Feigherzige werden zugleich unter dem eisernen Drukke, wie der kriechende Wurm unter dem tretenden Fuße, zerbersten: — uns aber, uns alle, die wir für wahre Freiheit kämpfen, — wahre Freiheit lieben, wünschen, suchen, — uns laßt streiten, siegen. Ja, theuerste Brüder! siegen werden wir, — wie unsre Väter über mächtige Heere siegten; denn auch unsre Sache ist gerecht; und der Gott der Gerechtigkeit wird sie schützen. Das sey unser Losungswort, welches

uns aufrufen — hinführen soll zum Kampf und zum Siege.“

Dieser Aufruf, geeignet, sowohl die Menge des Landvolks, als die Misvergnügten zu gewinnen, so in den Städten wohnten, ward überall mit geschäftiger Hand verbreitet, und vergrösserte im Kanton Luzern die hochgestiegne Gährung.

Mehr, als vorher, strömten nun Abgeordnete herbei aus den Thälern Luzerns, die Waldstätter zum schnellen Einzug ins Land zu bewegen. Man nannte die Soldaten der Verbündeten Freunde, Brüder, Retter des Vaterlandes, Schirmengel der Kirche; man wiederholte die feierlichen Schwüre, — mit ihnen Gut und Leben fürs gemeinsame Ziel zu opfern; man umringte schaarenweis das Haus, worin die Freifahne stand, und bot Geld, nur für ihren Anblik. Man hieng sie endlich öffentlich zu Küsnacht aus. Sieg oder Tod wollte jeder unter ihr.

In der Nacht vom 28. und 29. April zogen die Waldstätter gegen Luzern. Reding befahl, daß die von Zelger in Stanzstaad befehligten Unterwaldner, und die an ihrem See stehenden

acht hundert Zuger zu gleicher Zeit vor den Thoren der Stadt erscheinen sollten. Die leztern jedoch kamen nicht; denn die Franken waren schon über die Reuß gegen Zug selbst in Marsch.

Der Morgen brach an. Die Schwyzer zeigten sich auf dem Wesemli und der Mussegg, unter den Stadtmauern; auch von der andern Seite die Nidwaldner. Aber weit umher waren keine Hülfsvölker aus den Luzerner-Thälern zu sehn. Ihrer drei Tausende wenigstens wollten sich diesen Morgen mit den Waldstättern vereinen; kaum so viele Hunderte standen jezt in der Ferne.

Reding sandte nun den Emil Paravicini an die Stadt mit folgender Auffoderung:

„Noch können wir der angenehmen durch unsre Bünde geheiligten Gewohnheit nicht entsagen, Euch mit den süssen Namen Eidsgenossen anzureden und zu grüssen. — “

„Noch hatten wir uns nie überzeugen können, daß Ihr unsre älteste Bundsgenossen, wenn Ihr gleich eine neue Verfassung kleinmüthig Euch aufdringen liesset, die eidsgenössischen Bande und

Verhältnisse, die uns seit Jahrhunderten zusammen hielten, gewaltsam zerreissen würdet.“

„Desto tiefer muß es uns schmerzen, daß Schweizer, daß Eidsgenossen, daß Brüder schwach genug waren, sich durch eine fremde Schrekkenssprache verleiten zu lassen, gegen uns, gegen Eure älteste, getreuesten Bundsbrüder eine Sperre zu verhängen, die keine andre Absicht haben kann, als uns durch Hungersnoth zu zwingen, die glükliche Verfassung unsrer Väter gegen eine neue zu vertauschen, die uns alten, biedern Schweizern in jeder Hinsicht unerträglich scheint. — Und da auch Euer freies, noch schweizerischgesinntes Volk gegen uns laut den Wunsch geäussert, zu männlicher Vertheidigung der Verfassung unsrer Väter sich mit uns zu vereinigen; so hatten diese Eure feindliche Handlung Eurer dermahligen Regierung und die geäusserten Wünsche Eures Volks bei uns theils alten, theils neuen, demokratischen Völkern, in deren Adern noch das Blut unsrer Väter wallt, die Stimmung aufs höchste, und den mannigfachen Entschluß zur Reife gebracht, Euch und uns von der Schande dieser von Brüdern gegen Brüdern verhängten Sperre zu be-

freien, und den Wünschen Eures Volks bundsmässig zu entsprechen.“

„Wir fodern Euch demnach mit dringlicher Stimme auf, uns Eure Thore zu öffnen, uns als Eidsgenossen, als Freunde, als Brüder aufzunehmen, und unsrer bundesmässigen Vereinigung mit Eurem Volke, das, wie das unsrige, der Landesherr seines Landes ist, keine Hindernisse in den Weg zu legen.“

„Entschliesset Euch — zaudert nicht; — in einer Stunde würde durch die Gewalt der Waffen erzielt werden, was wir so gerne Euren brüderlichen Empfindungen, und unsrer dringlichen Auffoderung — verdanken möchten. — Für jeden Tropfen Brüder- Bürgerblut, der fliessen würde, werdet Ihr allein verantwortlich seyn; öffnet uns denn Eure Thore, vereinigt Euch lieber mit uns, — wendet lieber Euer Vermögen zur Vertheidigung des Vaterlandes an, und überzeugt Euch als Eidsgenossen und Christen, daß der Gott der Gerechtigkeit unsre gerechten Sachen unterstützen, und die getreue Zusammensetzung unsrer Kräften segnen werde, wie er solche dortmahls gesegnet hat, wo unsre Väter als Christen, Män-

ner, Helden für Religion, Freiheit und Vaterland stritten. — "

„In dieser frohen Hoffnung empfehlen wir Euch nebst uns dem Gott unsrer Väter per Mariam getreulich. "

Geben den 28. April 1798.

„Die Kriegs-Räthe der löbl. Stände Schwyz, Unterwalden unter dem Wald, Zug und Glarus. "

Die Bestürzung der Stadt war groß. Die Zahl der unter den Waffen stehenden Bürger immer zu klein, anhaltenden Widerstand zu leisten.

Der vor wenigen Tagen durch das helvetische Direktorium ernannte Regierungs-Statthalter des Kantons, Bürger Vinzenz Rüttimann, gieng mit einigen andern Beamten hinaus, um durch eine Kapitulation die Stadt vor Verheerung und Wuth eines erhizten Volkes zu retten. Als ihm Sicherheit des Eigenthums und der Personen verheissen worden, und dies dem Heerhaufen verkündet war, lies er die Thore öffnen. Die Schwyzer und Unterwaldner besezten dieselben,

und verbreiteten sich mit wildem Getümmel durch die Strassen.

Die Anführer der Verbündeten aber begaben sich auf das Stadthaus, und schlossen folgende Uebereinkunft:

## Kapitulations-Punkte
### der löbl. Stände Schwyz, Unterwalden, Zug und Glarus, gegen den löbl. Stand Luzern.

1) Die Sperre soll aufgehoben, und der freie Handel und Wandel wieder eingeführt werden.

2) Die Stadt Luzern soll mit Entlibuchern und andern Bauern, aus ihrem Kanton, besezt werden.

3) Kein Mann, weder im Entlibuch, noch anderswo, soll entwaffnet werden. Auch soll das Zeughaus und die Garnison dem Volk zur Bewachung überlassen, und ihm zur Vertheidigung des Vaterlandes die nöthigen Waffen gegeben werden.

4) Soll dem Volk freigestellt seyn, sich eine Verfassung zu wählen, und zur Vertheidigung

derselben sich mit andern Eidsgenossen zu verbinden.

5) Daß sie, die Stadt Luzern, keine Truppen wider uns und unsre Eidsgenossen anrufen, auch keine Hülfstruppen gegeben werden sollen, als alten Eidsgenossen, die die Konstitution nicht angenommen.

6) Daß die Emissärs, die allenfalls um fremde Hülfe ausgeschikt worden seyn, eilends sollen zurük berufen werden.

7) Soll den bemeldten löbl. Ständen diejenigen Kanonen, Munition und dazu gehörigen Geräthschaften laut Verzeichniß, welches dem Herrn Stukhauptmann Hedlinger zugestellt worden, aus dem Zeughaus abgegeben werden.

8) Soll den Eingangs benannten löbl. Ständen für ihre gehabte Kriegsunkosten 10,000 Gulden baares Geld, und für eine gleiche Summe Früchte verabfolget werden.

Schließlich soll diesen bemeldten, und andern mit ihnen verbündeten Ständen, der freie Durchpaß, zu allen Zeiten, durch Stadt und Land, gestattet seyn.

Alle obige Punkte sind von dem Regierungs-Statthalter, Namens des Kantons, accordirt und zu mehrerer Bekräftigung von ihm unterzeichnet worden. —

Geben den 29. April 1798.

Vinzenz Rüttimann,
Regierungs-Statthalter.

Ein seltsamer Zug der vereinten Kriegsvölker von Waldstätten darf nicht mit Stillschweigen übergangen werden. Sie sammelten sich bald nach dem Eintritt in die Stadt um die Kirche, überliessen sorglos ihre Waffen einigen Schildwachten, und traten in den Tempel, um dem Himmel für das Gelingen ihrer Werke Dank zu bringen, und mit gebührender Andacht Messe zu hören. Ein rascher Entschluß der Luzerner, und das fromme Heer wär' in die Kirche eingesperrt, gefangen, entwaffnet worden. Doch niemand stöhrte die Beter.

Nach vollzogner Andacht strömten die Krieger vom Altar wilden Getöses zu den Wirths- und Trinkhäusern, und von da durch alle Strassen. Umsonst eiferten die Hauptleute gegen Unordnungen.

Mit Hohn und Jubelgeschrei wurde der Freiheitsbaum niedergehauen, Hut, Fähnlein und Kränze abgerissen und im Feierzug durch die Gassen geführt, unterm Gesange des Volksliedes:

Wilhelm, wo bist du der Telle?

von Lermen und Gelächter oft unterbrochen.

Andre bestürmten das Stadthaus, die Schlüssel des Arsenals zu fodern. Es war vergeblich, daß die Befehlshaber ihren Soldaten die Ungerechtigkeit der Plünderungen und die abgeschlossene Kapitulation vorstellten. Der Kapuziner Paul Styger stieg auf die Kanonen, und rief: „Nehmt, Kinder, nehmt! alles ist Euer! alles! Ihr seyd die Sieger!“

So wurde das Zeughaus geplündert. Jeder nahm, was ihm zufiel. Viele verkauften ihren Raub wieder; andre schleppten Geschüz, Säbel, Munition u. s. w. in die Schiffe am Seeufer, und sandten die Beute auf Brunnen.

Aber zwei schrekkenvolle Botschaften lösten urplözlich den Rausch, und sezten dem Schwärmen ein Ziel.

Der am Morgen mit der Nachricht von Ein-

nahme der Stadt Luzern nach Zug gesandte Eilbote kam zurük. Nicht einmahl bis Zug hatte er die Freudenpost bringen können; denn die Franken, ohne Widerstand zu finden, waren schon dort eingerükt, und drohten nun folgenden Tags ins Schwyzer-Gebiet einzubrechen.

Am Zürichsee hatten sich die Verbündeten durchaus unthätig gehalten in ihren Stellungen; inzwischen die feindlichen Brigaden auf beiden See-Ufern heranrauschten.

Alle diese Anzeigen, und die muthlose Unentschlossenheit der Luzerner Landleute zwangen den Kriegs-Rath der Schwyzer zur Aenderung des Plans. Man trat zusammen. Bald wars entschieden, daß der Invasionskrieg in eine blosse Vertheidigung heimathlicher Gränzen verwandelt werden müsse.

Der rechte Flügel bei Wollrau und Rapperswyl erhielt Befehl, seine Stellung zu behaupten, und der linke Flügel bei Meyringen und Brienz, sich an die Obwaldner Gränzen zurükzuziehn.

Der in Luzern eingedrungne Heerhaufe eilte sogleich am Abend desselben Tags in das Gebiet von Schwyz zurük. Am folgenden Tage wurde Luzern schon von den Franken besezt. *)

*) Den 30. April.

# Viertes Buch.

# Viertes Buch.

## 1.

Als in Themistocles Tagen die Athenienser den grossen Kampf um ihres Vaterlandes Freiheit bestehen wollten, opferten sie die eigne Stadt auf, sorgloser und sichrer den Krieg zu führen. So nicht die Waldstätter. Obgleich sie für einerlei Ziel verbunden waren, dachte doch jeder Theil zuerst an die Hut seiner Heimath; — obgleich sie alle mit Enthusiasmus die Sache der ganzen Eidsgenossenschaft führen zu wollen schienen, ja mehr, als einmahl, mit Stimmen der Verzweiflung das äusserste zu wagen schwuren: wagten sie doch nicht, mit Hingebung gesammter Habe, ihre Kräfte zu vereinen. Schwach überall, war ihr Untergang gewiß. Furchtbar nur wären sie gewesen, wenn in zusammengedrängter Masse, ohne Rükblik auf das Schiksal ihrer

Kantone, sie die Stimmung der Wankenden entschieden, und die Fahnen des Aufstands weit umher durch einzelne Siege in ihr Gefolge gezogen hätten.

Der Kriegs-Rath von Schwyz begab sich nach Arth, und dekte mit den vorhandnen Truppen des Landes offne Seiten. Arth, in einer lieblichen Gegend, zwischen dem hohen, waldigten Rigi und den Wellen des Zugersees, wurde von beiden Seiten, gegen das Gebiet von Luzern und von Zug, mit Truppen umzogen. Die Strasse gegen Luzern hütete der Hauptmann Dominik Felkle mit 600 Mann. Hundert freiwillige Scharfschützen standen, als Vorwacht, im Dorfe Küsnacht. Gegen Zug hin übernahm Hauptmann Fäsler den Gränzpaß bei St. Adrians Kapelle zu vertheidigen; ihn unterstüzte Felix Ab-Iberg, welcher mit seinem Bataillon sich des Rüfiberges und der Anhöhen versicherte, welche Arth scheiden vom Aegeri-See.

Da, wo dieser See an die Gränzen von Schwyz rührt, waren die Päße von Schorno,

Morgarten

Morgarten und St. Josienberg, nahe am rothen Thurm. Dieses Hügelland wurde durch zwei Bataillone besezt; ihre Anführer waren Rychenbacher und Joachim Hediger.

Am stärksten geschüzt waren die Seiten von Schwyz gegen den Kanton von Zürich. Dort standen die Glarner unter ihrem erfahrnen Obrist Paravicini; die muthigen Einwohner der Höfen; die Hülfstruppen von Sargans, Uznach, Gaster und die aus der March; ein Bataillon von Schwyz, und ein andres von Einsiedeln.

Als dieses alles angeordnet war, erschien vom Oberbefehlshaber der Franken in Helvetien die lezte Auffoderung: *)

„Bürger!

„Ich hätte glauben sollen, daß mein freundschaftliches, friedliches Benehmen, daß meine Sorgfalt, euch aus der Blindheit zu reissen, in der euch unversöhnliche Feinde der Freiheit gefan-

*) Schreiben Schauenburgs an die Bewohner der Kantone, welche der helvetischen Mehrheit noch nicht beigetreten sind. Arau, 27. April 1798.

gen halten, euch endlich einmahl von der fränkischen Großmuth überzeugen würden. Mit welchen Schmerzen habe ich daher nicht vernehmen müssen, daß eine Handvoll Fanatiker sich habe beigehen lassen, sich dem Truppenmarsch der grossen Nation entgegen zu setzen! Aber mit der Schnelligkeit des Blitzes hat auch die Strafe dieses verwegene Unternehmen geeilt; die Rebellen liegen im Staube!“

„Einige von ihnen sind in unsre Hände gerathen — ich war Herr ihres Schiksals; aber ferne war von mir die Empfindung der Rache; nur in der Schlacht ist der Franke fürchterlich; der Sieg macht ihn wieder zum Menschenfreund; — der Freiheit wurden sie wieder zugestellt, diese unglüklichen Schlachtopfer der Unwissenheit und des Aberglaubens — sie werden zu euch zurükkehren und euch sagen, wie sie seyen behandelt worden.“

„Sie wurden bei den vornehmsten Behörden Helvetiens vorgelassen; überall haben sie nur die Stimme des Friedens und der Brüderlichkeit vernommen; mit welchem Vorwande können denn heut zu Tage sich noch die Apostel des Fanatismus und des Aufruhrs brüsten?“

„Die überlegenste Mehrheit der helvetischen Nation hat die Konstitution angenommen; ihre Gesezgeber beschäftigen sich unaufhörlich mit den Mitteln, sie in Thätigkeit zu setzen. Das Vollziehungs-Direktorium ist eingesezt — Ehrfurcht und allgemeines Zutrauen haben es umrungen — seine Stütze ist die fränkische Regierung, und Vollmacht ist ihm gegeben, über Truppen zu schalten, welche ganz Europa besiegt haben. Was vermöchte wohl so grossen Vorkehren die Minderzahl unmächtiger Aufrührer entgegen zu setzen?“

„Bürger, höret einmahl die Stimme der Vernunft! Vereinigt euch unter die Fahne der helvetischen Konstitution! Kehret zurük in den Schoos einer Brüder-Familie, die die Arme nach euch ausstrekt! Euer Eigenthum, eure Religion sollen unangetastet bleiben; die Duldung ist die erste Tugend eines freien Volkes.“

„Wenn ihr aber in eurer Blindheit verharret, wenn ihr auf die Lügenstimmen des Fanatismus zu achten fortfahret, so stürzet ihr euch nothwendiger Weise in einen Abgrund von Uebeln. Aber zittern sollen sie, die Urheber eurer Blindheit,

diese stirnlosen Heuchler, die selbst an die Monarchen nicht glauben, die sie euch vorschwatzen; eine exemplarische Strafe wartet auf sie.“

„Auf der einen Seite Freude und Glük, — auf der andern Seite Krieg und alle Qualen, die ihn begleiten! Wählet, noch habt ihr Zeit dazu! wählet! aber — geschwind! —“

Arau, den 27. April 1798.

Das Volk der schwyzerischen Thäler, nur unter dem Gebot der Kirche kindlich-zahm, sonst trotzig-kühn, kaltblütig in Gefahren, unbändig, mehr bisher von Sitt' und Brauch, als vom Gesez geführt, vernahm die Worte Schauenburgs mit tiefem Unwillen. Wer einmahl für sein Recht den Tod ruhmwürdig hält, dem ist kein Kampf, kein Feind, kein Schikſal furchtbar.

Wie die Scythen einst dem Alexander antworteten, da er mit sieggewohntem Heere vor ihren Einöden erschien, hätten die Schwyzer dem fränkischen Feldherrn antworten können. Aber ihre Erwiedrung auf sein Drohn war Schweigen und Sich-rüsten.

Schon am folgenden Morgen griffen die Fran-

ken an, und zwar in der Gegend, wo man es am wenigsten erwartete, bei Wollerau, am Zürichsee. *) Von beiden Seiten ward das Gefecht lebhaft. Die Franken wurden bis auf Richterswyl zurükgeworfen; doch verstärkt erneuerten sie dort die Gegenwehr, und zwangen die Eidsgenossen durch eine glükliche Wendung, indem sie denselben in die Seite fielen, bis Wollerau zurükzuziehn. — Am Nachmittage begannen die Franken das Feuer von neuem. Sie schienen auch diesesmahl nicht glüklicher zu seyn. Sie wankten. Hauptmann Hauser von Näfels war mit einer Schaar Freiwilliger schon wieder bis nahe an Richterswyl vorgedrungen. Da änderte sich das Glük. Hauser sank von zwei fast tödlichen Wunden nieder; seine Schaar zog sich alsbald zurük mit ihrer Fahne, welche während des Gefechtes schon zum drittenmahl ledig, und immer durch Freiwillige wieder emporgehoben worden war. Als, von den Franken verfolgt, die Schaar wieder gen Wollerau kam, fand sie, statt frischer Unterstützung, Verwirrung, Muthlosigkeit und Flucht, durch den Obrist Paravicini veranlaßt, welcher, wegen empfangner Wunden, sich

*) Den 30. April.

vom Kampfplaz zurükgezogen hatte. Die Franken benuzten diesen Umstand; bei überall erschlaffnem Widerstande verdoppelten sie ihren Angriff. Die Glarner mit allen Hülfstruppen verliessen das Schlachtfeld, und die Sieger besezten noch am selbigen Abend die Höfe Wollerau, und Pfäffikon am Fuß des rauhen Ezel. Die Schwyzer selbst, vom Obrist Paravicini befehligt, gegen Hütten die Höhen zu dekken, hatten an den Vorfällen keinen Theil.

Unter den Kämpfern und Schikfalen dieses Tages verdient die Standhaftigkeit und Geistesgegenwart des Hauptmann Hauser bemerkt zu werden. Als dieser Anführer vom Blutverlust entkräftet unter den Todten lag, wurde er von einem vorbeigehenden fränkischen Offizier*) erblikt, und für einen Franken gehalten. Menschenfreundlich hob ihn dieser auf, und da er noch Leben in ihm fand, rief er ihm zu: „Muth, Kamerad, Muth!“ Hauser, gleichsam vom Todesschlummer erwachend, starrte ihn an mit trübem Blik und antwortete: „es fehlt mir nicht an Muth, nur an Kräften.“ Der Franke

*) Fressinet.

wurde davon so gerührt, daß er auf der Stelle befahl, für die Verpflegung des Verwundeten alle Sorge zu tragen. Er wurde also nach Wädenschwyl gebracht, und aufs beste versorgt, und nach einiger Zeit von seinen Wunden völlig wieder hergestellt.

Am nämlichen Tage des Abends machte ein fränkisches Corps den ersten Angriff über das waldigte Vorgebirg, die Kiemen genannt, am Zugersee, gegen das Dörflein Immensee. Eine geringe Mannschaft stellte sich ihnen entgegen. Da man sich nur kaum im Dunkel der Nacht am Feuer der Schiesgewehre erkennen mochte, zogen um 11 Uhr die Franken mit einigem Verluste zurük.

Ein lebhafteres Gefecht entglühte an diesem Abend auf der andern Seite von Arth, beim Flekken Küsnacht. Die dort ausgestellten Scharfschützen der Schwyzer nöthigten ihre Feinde mit ziemlichem Verlust zum Rükzug.

Am folgenden Morgen, da die Einwohner von Immisee, um ihr Vieh zu besorgen, den ungemein vortheilhaften Posten auf den Kiemen

für einige Zeit verlassen hatten, *) kamen die Franken mit verstärkter Macht, und rükten bei mattem Widerstande bis in das kleine Dorf Immisee, und in die bekannte hohle Gasse von Küsnacht, wo der erste Schuß für Freiheit geschah, und Tell mit einem Pfeile Geslers Tyrannei strafte.

Hier erhob sich auf dem berühmten Boden ein heisser Kampf. Ein nahe stehender Heerhaufen von Schwyzern hörte das Getöse und stürzte herbei. Da ward das Gefecht schnell entschieden. Die Franken flohen durch Immisee, und über den jähen Riemen gegen Meiers-Kapelle, und gen Rysch im Lande Zug.

Aber Küsnacht, von dieser Seite gesichert, ward ungleich mehr von den Luzerner-Gränzen bedroht; nicht nur Franken, sondern auch ansehnliche Mannschaft von Luzern, aufgeboten von der Stadt und gerüstet, drohten den Flekken einzunehmen. **) Die Küsnachter foderten Hülfe von Schwyz; aber sie konnte ihnen nicht, ohne Ent-

*) 1. May.

**) Schreiben von Ignaz Trutmann, den 1. May, an den Kriegs-Rath.

blössung ungleich wichtigerer Posten, werden. Da ergaben sie sich den Franken, *) nachdem ihnen Schonung und Sicherheit des Eigenthums versprochen war. Schändlicher Weise wurde aus einigen Häusern auf die einziehenden Franken geschossen, welches die Sieger erbitterte und manche Plünderung veranlaßte.

Kampfbegierig hatten inzwischen auf den Höhen des Rüfi oder Roß-Berges die Schwyzer gestanden, und unthätig dem Gefecht in den Höfen vom 30. April zusehen müssen. Mistrauisch wegen des gänzlichen und schnellen Rükzuges der Glarner und andern Hülfstruppen, foderten sie durch Abgeordnete an den Kriegs-Rath (in Arth), daß ihnen der Landshauptmann Reding gesandt werde, damit er sie gegen den Feind führe.

Aloys Reding, damahls der Schwyzer Oberbefehlshaber, und die Seele des Heers, hatte als Obrist in spanischen Diensten die Kunst des Krieges studiert, nachher sich in die Einsamkeit des vaterländischen Thales begeben, und dort

*) 2. May, des Morgens.

der Freundschaft, den Musen und dem Anbau seiner Güter gelebt. Schon vor der Revolution wünschte er Verbesserung des eidsgenössischen Staatswesens, und daß das Vaterland einer wahrhaften und fruchtbringenden Freiheit genösse; aber es empörte sein Herz, von Fremdlingen die Revolution gemacht, und Helvetien vielleicht, wie damahls viele fürchteten, als Frankreichs Unterthanin zu sehn.

Darum ergriff er sein Schwerdt, entschlossen als freier Schweizer, der Vorwelt werth, zu leben und zu sterben.

Der Verlust seiner jungen, heisgeliebten Gattin hatte noch tiefe Schwermuth in seinem Herzen zurükgelassen, und ihm vielleicht die Gefahren der Schlachten nur wünschenswürdiger gemacht. Einsichtsvoll, bieder, entschlossen, kaltblütig und treu, ward er der Günstling und die Zuversicht seines Volks.

Noch in der gleichen Nacht verlies Reding Arth, und erschien am ersten May in der Morgenfrühe an der Schorno, wo fünf hundert angekommne Urner im Begriffe standen, sich mit

den Schwyzern *) zu verbinden, um diesen wichtigen Gränzpaß und die Anhöhen vom Morgarten zu besetzen. Von da gieng er den Posten vom St. Jostenberg zu besichtigen, welchen das erste Bataillon von Schwyz, nebst einer Compagnie Freiwilliger von Aegeri und Menzingen aus dem Zugerlande unter ihrem Hauptmann Traxler vertheidigen sollten. — Endlich eilte er hinab in das rauhe Thal vom Dörflein Schindellegi, wo in gleicher Zeit mit seinem Bataillon der Hauptmann Schilter eintraf. Hier überraschte ihn ein freudiger und schmerzlicher Anblik.

Die Einwohner von den schwyzerischen Höfen Wollerau und Bäch, unten am Ufer des Zürichsees, waren heraufgezogen, noch ferner im Kampfe gegen die Franken auszuharren. Die unglüklichen Ereignisse des 30. Aprils, der Tod und die Wunden ihrer vielen Brüder, der Brand und die Plünderung ihrer Hütten, die Flucht ihrer Kinder und Weiber in unwegsame Wälder, das Beispiel der flüchtigen Hülfstruppen — nichts hatte ihre Entschlossenheit erschüttern können, treu

*) Das 4te Bataillon.

mitzustreiten bis auf den lezten Mann. Gerührt sahn die Schwyzer auf sie und drükten ihnen die Hand.

Reding, immer noch in der Hoffnung, daß die Glarner mit ihren Gehülfen sich irgendwo in der March wieder gesammelt haben würden, schrieb an Paravicini:

Schindellegi, 1. May, Morgens um 8 Uhr.

Mein lieber Herr Obrist!

Vor einer Viertelstunde kam ich hier an. Ich bedaure sehr Ihre Wunde und den Rükzug der Hülfstruppen. Das Bataillon Schilter ist ganz ungehalten, daß es bei diesem Gefecht nur Zuschauer seyn durfte, und will sich schlagen. Ich bitte und beschwöre Sie also, kommen Sie, oder wenn Sie wegen Ihrer Wunde nicht können, so schikken Sie einen andern Kommendanten mit Ihren Truppen eilends zurük. Unsre Leute und die rechtschaffnen Höfer werden sich mit Freuden an sie schliessen. Vereint wollen und können wir das Uebel des gestrigen Tags wieder gut machen.

Aloys Reding.

Der Eilbote kam nach drei Stunden zurük. Glarner, Uznachter, Gastler und Sarganser, alle waren sie auseinander und in ihre Heimath zurükgegangen. In Lachen standen schon die Franken.

Nun war aller Glauben an Hülfe verloren; der Kanton Schwyz, ausser den Zuzügern von Uri und den wenigen Zugern, sich selbst überlassen. Nidwalden, bedroht von Luzern, entschuldigte sich, keine Hülfe senden zu können, hatte aber Obwalden um 300 Mann gemahnt. Statt solche zu schikken, bezeugte Obwalden sein Bedauern, nichts zu vermögen, da es auf drei Seiten vom feindlichen Einfall bedroht wäre.

---

2.

Alle Gränzen des alten Kantons Schwyz, eine kleine, südliche Strekke gegen das Muottathal ausgenommen, waren der Gefahr des feindlichen Angriffs preisgegeben. Weniger, als 4000 Mann, mußten nun eine Linie von zehn deutschen Meilen gegen eine ungeheure Uebermacht fränkischer Brigaden dekken, die von allen Seiten daherrauschten.

Jeder Funken Hoffnung loſch aus. An keine Rettung war zu denken. „Was bleibt uns?“ murmelte man durch die Glieder. „Unſrer Väter Tod!“ gieng die Antwort zurük.

So viel Unglüksfälle erhöhten die allgemeine Begeiſterung. Hinfällige Greiſe und unmündige Knaben wollten an dem Ruhm theilnehmen, unterzugehn mit dem Vaterlande. Frauen und Mädchen ſpannten ſich vor die von Luzern entführten Kanonen in Brunnen, und zogen ſie hinauf ins Gebirg, über Steinen und Sattel gen Rothenthurm. Faſt alle Weiber des Landes waren bewaffnet; die mehrſten mit Keulen. Ihrer viele waren gleichförmig ausgezeichnet, durch weiſſe Binden ums Haupt und Hirt-Hemden über den Schultern. Wo ein Feiger zu entſchlüpfen wagte, faßten ſie ihn mit Gewalt, und ſchikten ihn zum Kampf an die Gränze.

Alſo bewachten Mütter und Töchter das Land, während ihre Väter, Gatten, Söhne, Brüder, im Angeſicht des Todes ſtanden auf dem Gebirg.

Und ſie ſtanden kalt und feſt, wie ihre ewigen Felſen da, und entſchloſſen, ihr Leben nun dem

Vaterlande zum Opfer zu bereiten. Auf den grünen Höhen von Morgarten wollten sie das heilige Denkmahl altschweizerischer Tapferkeit erneuern, und ihren Enkeln, wenn auch nicht die Freiheit, doch die feierliche Lehre im Jahrbuch der Welt hinterlassen, was man um Freiheit opfern müsse. *)

So standen sie da, an der Schindellegi, der Tod ihre Erwartung, und die nie von einem glüklichen Feind betretne Erde zu rächen, ihr Wunsch. Wie sie und Reding, erwartete kalt und kühn einst Leonidas mit seinen Spartern bei Thermopylä den Untergang.

Als Aloys Reding die Stimmung seines Volks wahrnahm, wandte er sich zu demselben und sprach: „Liebe Landsleute und Kameraden! bald sind wir am Ziel. Von Feinden überall umschlossen, von Freunden verlassen, ists nur noch die Frage: ob wir zusammenhalten wollen

*) Wirklich glaubten die meisten, daß sie mit dem Verlust ihrer von den Vätern ererbten Regimentsordnung auch alle Freiheit in weltlichen und geistlichen Dingen verlieren, und Frankreichs Vasallen werden müßten.

standhaft, bieder, in der Gefahr jezt, wie unsre Väter am Morgarten? Unser Loos ist der Tod. Bangts einem noch von uns, der gehe zurük; kein Vorwurf von uns wird ihm folgen. Wir wenigstens wollen in dieser Stunde einander nicht betrügen. Lieber ists mir, hundert Mann zu haben, auf die ich mit Zuversicht zähle, als fünf hundert, die beim Gefecht davon laufen, Verwirrung anrichten, und durch ihre Flucht die rechtschaffnen Leute zum unnützen Opfer machen. Ich aber gelobe euch, in keiner Gefahr, und im Tode nicht, von euch zu scheiden. Wir fliehen nicht; wir sterben. Gefällt euch dieser Vorschlag, so laßt zwei Männer aus der Schaar treten, und mir in euerm Namen das Gleiche geloben.“ *)

Tiefschweigend, horchend standen sie da, an ihren Flinten gelehnt. Hin und wieder sah man eine Thräne stürzen über die männliche Wange. Ein wildes Geschrei, tausend Stimmen stiegen

gen

*) Der Ueberliefrer dieser Geschichte giebt die obige Rede treu und einfach, wie sie gehalten ward. Weder diese noch eine künftige sind folglich Dichtung, im Geschmak des Curtius.

gen Himmel: „Ja! Ja! wir wollen halten! und euch auch nicht verlassen!“

Darauf traten zwei Krieger aus den Reihen zum Landeshauptmann. Sie streckten ihm ihre Hände dar, und also beschworen unter freiem Himmel der Feldherr und sein Volk den gegenseitigen Bund, nach der alten Weise der Väter.

Die Nacht brach herein. *) Hin und wieder flammte ein Wachtfeuer. Die Krieger schliefen unter dem Gewehr. Aloys Reding begab sich in das Dorf Rothenthurm, dessen zerstreute Hütten an der Landstrasse liegen zwischen Schwyz und der Waldstatt Einsiedeln. Dort fand er den Kriegs-Rath, welcher, ihm näher zu seyn, Arth verlassen hatte. Der Kommendant wollte sich noch einmahl über die Vertheidigung der zweiten Linie berathen, bei etwaniger Räumung der ersten.

Was diese nächtliche Zusammenkunft besonders merkwürdig machte, war die Gegenwart des berüchtigten Pfarrers von Einsiedeln, Marianus Herzog.

*) Vom 1. zum 2. May.

Wie Paul Styger im südlichen Theile des Kantons Schwyz, war Marianus, ein Luzerner von Geburt, im nördlichen; ihm gleich an Stolz, unbändiger Herrsucht, Gewaltthätigkeit und Tükke, übertraf er den Nebenbuhler noch in Heuchelkunst und Schwärmerton. Kein Verbrechen blieb von ihm unbegangen; doch die bezauberte Menge sah an ihm nur Tugend, und in dem Mörder des Vaterlandes und der Kirche, den Märtyrer. So in seiner Gegend der Volksgunst mächtig, benuzte er sie auf pfäffische Weise. Er stellte sich an die Spitze des Regiments der Waldstatt Einsiedeln; er ordnete und befahl mit ungezäumter Willkühr, und brachte es so weit, daß die Hauptleute es nicht, ohne Gefahr von verblendeten Bauern erschossen zu werden, wagen durften, seinen gebieterischen Befehlen zu widerstehn. Noch damit nicht zufrieden, sandte er auch in den Sprengel von Schwyz geheime Ausläufer, das Volk zu verwirren, um dann über die Truppen dieser Thäler gleicher Herrschaft theilhaftig zu werden. Besonders bot er seine Künste auf, die Einsichtsvollen und Geehrten zu stürzen; Verdacht anzuzünden gegen die sogenannten „Herrn," und alles, was Perükken trug und

Haarzöpfe; und endlich aller Pfeile Ziel war ihm der Kriegs-Rath selbst.

Er hatte mit 600 Einsiedlern am 1. May die Bergschlusten des Ezel besezt, dieses mächtigen Vorwalles vom Kanton Schwyz gegen das Land Zürich, dessen See seinen Fuß bespült. Marianns foderte dort vom Landshauptmann Reding wiederholtermalen einen Kommendanten. Doch kein Offizier von allen Schwyzer-Bataillons wollte mit dem Mönche das Kommando theilen, überzeugt, daß keiner ihrer Befehle vollzogen werden würde, so mit dem Eigensinn des Pfaffen in Widerspruch stände. Darum antwortete Reding den Einsiedlern: „Da ihr einmahl den Ezel besezt hattet unter euerm Pfarrer, so traget Geduld. Obwohl ich von ihm selbst, als einem Schwärmer, des Guten wenig erwarte; so tröstet mich der Gedanke an Treu und Muth der Hauptleut' und Soldaten von Einsiedeln." *)

*) Wie im Kanton Schwyz Paul Styger und Marianus, so herrschten im Kanton Unterwalden zwei andre Kapuziner über das arme, bethörte Volk, der Helfer Lüssi in Stanz, durch seine Wollust und Grausamkeit berüchtigt, und Pfarrer Käßle zu Bekkenried am See der Waldstätte, ein schlauer Schwärmer.

Da nun, wie gesagt, der geistliche Ritter um Mitternacht beim Kriegs-Rath gemeldet wurde, wagte man nicht, ihm den Zutritt zu verweigern. Als die Vertheidigung einer zweiten Linie zur Sprache kam, ergrimmte er und rief: „Diese Berathung ist unnüz und verräth unnöthige Furcht. Wenn Schindellegi und andere Posten so vertheidigt werden, wie ich mit den Einsiedlern den Ezel schirmen mag; so sind wir Sieger. Und ich betheure euch bei allen Heiligen, alle Einsiedler werden, wie ich, jenen Gränzposten bis zum lezten Blutstropfen verfechten!“

Eben so schwur er noch einmahl dem Landshauptmann beim Abschiede, und versprach demselben durch Eilboten alle wichtige Vorfälle zu melden.

Am 2. May, des Morgens um 10 Uhr, erschienen die Franken, zwei tausend Mann stark, vor Schindellegi. Die Scharfschützen kamen zuerst mit dem Feinde ins Gefecht, und hielten ihn fast zwei Stunden lang auf, ehe das Bataillon und die zwei Kanonen der Schwyzer wirksam werden konnten. Gegen ein Uhr verminderte sich das fränkische Feuer, und hörte endlich ganz auf.

Die Schwyzer stritten an diesem Morgen nicht wie Hirten, welche von den Alpen gekommen, sondern wie Soldaten, die in Feldlägern ergraut waren. — Jeder von ihnen drängte sich vor, handgemein zu werden. Mehrere Verwundete wollten das Schlachtfeld nicht verlassen. Einer von ihnen, der des Morgens eine starke Wunde im Schenkel, am Nachmittag eine in dem Leib empfangen, kämpfte mit gleichem Muth fort, bis ein dritter Schuß durch seinen Arm ihn ausser Stand sezte, sich des Gewehrs zu bedienen. Dann gieng er nach Haus, noch ohngefähr acht Stunden weit. Paarweis stritten sie, zerstreut zwischen Felsen und Bäumen; paarweis fielen sie, bis zum Tode sich und der Muttererde getreu, für die sie fochten. Keiner beklagte seine Wunden, keiner seinen gefallenen Freund. Keiner, als der fürs Vaterland erblaßte, schien an diesem festlichen Blut-Tag beneidenswürdig zu seyn.

---

## 3.

Odemlos, von Staub und Schweiß bedekt, kam aus freiem Trieb im vollen Lauf ein redlicher

Mann von Einsiedeln, genannt Meinrad Käly; er überbrachte dem Landeshauptmann die unerwartete Nachricht, daß die Franken schon über dem Ezel heranziehen. Er erzählte, daß der Pfarrer Marianus am Morgen um acht Uhr auf den Ezel gekommen, und gesagt habe: „Ihr lieben, guten Leute, ich halte fürs beste, daß ihr nach Hause gehet, und die Waffen niederleget. Das Wehren hilft uns hier doch nichts, weil man an den übrigen Posten auch nicht zu widerstehen gedenkt!“ Auf dieses sey er gen Einsiedeln zurükgeritten, und die Mannschaft dem Beispiel des geflüchteten Verräthers gefolgt.

Einsiedeln und Schwyz war so durch den Streich des Pfaffen den Franken offen. Die Truppen an der Schindellegi, um nicht umgangen zu werden, und noch eine Verbindung mit Einsiedeln und St. Jost zu unterhalten, mußten sich zurükziehn. Es geschah in aller Ordnung. Scharfschützen und Grenadiers dekten den Zug. Um 3 Uhr Nachmittags erreichten die Schwyzer Rothenthurm; viele der treuen Höfer waren ihnen auch bis dahin gefolgt. In den Gefechten dieses Tages bei Schindellegi zählten die Schwyzer 24

Todten und 50 Verwundete. Unter den lezterm befand sich auch der wakre Hauptmann Schiller, welcher an seinen Wunden den Geist aufgab. Schauenburg aber lies sofort den General Nouvion mit einer Colonne von 6000 Mann, versehn mit Artillerie und Reuterei, über den Ezel rükken.

Inzwischen war auch auf dem St. Jostenberg der Hauptmann Hediger von den Franken mit überlegner Macht angegriffen worden. Sie waren von Aegeri und Hütten heraufgekommen, zwei bis drei tausend Mann stark. Hediger, im Zweifel, diesen Paß behaupten zu können, hatte sich gegen den rothen Thurm zurükgezogen. Der ganze St. Jostenberg, und von daher alle Anhöhen bis auf den Morgarten, waren ununterbrochen von den Franken besezt.

Reding lies alsbald durch das Bataillon Hediger die Anhöhen vom Morgarten wieder stürmen; er selbst blieb mit zwölf hundert Mann im Dorfe Rothenthurm. Unterdessen wälzten sich die feindlichen Schaaren langsam, in furchtbarer Anzahl, und weiten Linien, vom Gebirg herab gegen das Dorf. Schon standen sie, sich entwik-

kelnd, auf der Ebne; schon nahe genug zum kleinen Gewehrfeuer. Da erst donnerten ihnen die Schwyzer-Kanonen einigemahl entgegen. Es erfolgte eine Stille. Aloys Reding flog durch die Reihen; führte sie gegen die Ebne vor, und nach dem ersten Abfeuern beider Bataillons liess er das sehnlich erwartete Sturmzeichen schlagen. Mit einem Muth, der beinah an Raserei gränzte, brach nun alles auf, mit gefälltem Bajonet, jauchzend dem Feind entgegen. Weder die Menge, noch die vortheilhafte Stellung, noch die Kriegserfahrenheit desselben konnte die Schwyzer zurükschrekken. Die Begierde, mit den Besiegern Europens handgemein zu werden, war so groß, daß sie allen Gefahren, und dem fürchterlichsten Feuer aus tausend Röhren und Schlünden zum Troz, durch eine Ebne von mehr als 800 Schritt festgeschlossen vordrangen, ehe sie ihren Feind in seiner überaus günstigen Stellung am Fuß des Berges ergreifen konnten. — Ihr Schritt wurde zum Lauf, ihr Lauf zum Flug. — In jedem rief's: es ist ums Vaterland! Der Tod oder der Sieg waren ihnen gleich reizend. Soldaten und Befehlshaber wetteiferten, wer zuerst den entweihten Boden der Freiheit mit Feindesblute

heiligen sollte. Die Franken schienen bei diesem Anblik einen Augenblik unschlüssig, ob Flucht, ob Widerstand? Als aber die Schwyzer von allen Seiten mit gleich festem Schritt' und gleicher Kaltblütigkeit so nahe herankamen, daß man einander in die Augen sahe, war's entschieden. Das Bajonet der Schwyzer brach die feindlichen Reihen. Ein viertelstündiges Gemetzel, und die Franken ergriffen von allen Seiten die Flucht, so schnell, daß von ihrer Seite kaum noch ein Schuß fiel. Binnen einer halben Stunde waren die Schwyzer Meister von den Anhöhen, auf Wegen, die in so kurzer Zeit sonst vom besten Fußgänger nicht gemacht werden. Die Franken büßten viel Volks ein.

In der Gebirgskette auf den Gränzen von Zug und Schwyz, zwischen dem stillen See von Aegeri und dem Berge, genannt Sattel, schweift auf den Alpenhöhen in milden Liegungen ein grünes Thal hin — dies ist der Morgarten.

Dort hinan kletterten, von Aegeri herauf, die fränkischen Kolonnen. Unbesezt von den Schwyzern waren jene Höhen, seit dem Rükzug von der

Schindellegi. Alles kam darauf an, auch diesen Posten wieder zu gewinnen.

Zum Glük waren am gleichen Tag des Morgens am Sattel 300 Mann frischer Hülfstruppen von Uri erschienen, geführt vom Urner Landshauptmann Schmid.

Sogleich eilten funfzig Urner Scharfschützen gegen den Morgarten; ihnen folgten langsamer 150 ihrer Landsleute, und viele aus dem Landsturm von Steinen. *) Das von Reding abgesandte Bataillon zog zugleich von der Seite des rothen Thurms dahin.

Die Franken aber hatten das Alpenthal vom Morgarten erstiegen; sie rükten schon über die Anhöhe abwärts bis in die gegen den Sattel gelegnen Waiden. Als sie den Anzug der funfzig Scharfschützen wahrnahmen, machten sie auf dieselben ein ununterbrochenes Feuer. Die Scharfschützen aber, wenig davon geschrekt, stellten sich

*) Ein Pfarrdorf, nur eine Stunde von Schwyz, bekannt durch Landvogt Geslers Spruch, als er daselbst Werners von Stauffach Haus erblikte: „kann man leiden, daß Landvolk so schön wohne?“

zur Gegenwehr, und hielten die Franken so lange zurük, bis von der Morgenseite her auch jenes Bataillon vom rothen Thurm die Höh' erstiegen hatte, und von der Morgenseite her unvermuthet dem Feind' in die Flanken fiel. Das Feuer erglimmte nun von allen Seiten heftiger. Die nacheilenden 150 Urner und Schwyzer, als sie solches sahn, verdoppelten ihre Schritte, um an dem Kampfe der Brüder Theil nehmen zu können.

Sobald sie alle vereint waren, hies es: „machen wirs kurz, nehmen wir sie unter die Kolben!“ Da rollte der Sturmmarsch, und blizschnell brachen mit gefälltem Bajonet die Schweizer in des Feindes Glieder. Bald war auch hier der Franken Flucht entschieden. Die zwei Bataillons von Rothenthurm hatten den Feind inzwischen auch bis auf die Berghöhen getrieben. Zweimahl stellten sich die Weichenden wieder; zweimahl entbrannte der gleiche Kampf; aber der Morgarten, nur den Siegen der Schweizer heilig, sah bald überall aus seinem stillen Gelände den Feind geschlagen. Der Plan der Franken, zur nämlichen Zeit von zwei Seiten einen Angriff zu machen, veränderte sich also in gleichzeitige Flucht.

In eben dieser Gegend besiegten im Jahre 1315 am 15. November die Schwyzer, vom Greisen Alt-Landamman Rudolf Reding von Biberegg geführt, Oesterreichs Uebermacht.

Die Franken wurden bis in die Tiefe des Dorfes Aegeri im Zugerlande verfolgt, wo sie sich vergebens zum drittenmahl zu stellen suchten. Man würde sie noch weiter getrieben haben, aber der entblößte Ezel lies die Schwyzer fürchten, von andern Seiten überrascht zu werden. Zufrieden, die Franken vom Morgarten und St. Jostenberg zurükgeworfen zu haben, endeten sie mit anbrechender Nacht das glükliche Treffen.

An denselbem Tage in der Mittagsstunde war das unter dem Obristlieutenant Aloys Gwerder zu Meyeringen im Haslithal gestandne Schwyzerbataillon im Flekken Schwyz angekommen, und da es von der Räumung des Ezels gehört hatte, sogleich weiter geeilt, die Haggen-Egg zwischen Schwyz und Einsiedeln zu besetzen, um sich dem andringenden Feind entgegen zu dämmen. Ohne eine Erfrischung zu nehmen, erstiegen sie diesen hohen Berg so behend, daß sie um 3 Uhr schon die Höhe erreicht, und folg-

lich binnen 24 Stunden einen höchst beschwerlichen Weg von 20 Stunden zurükgelegt hatten.

---

4.

Am folgenden Tage *), Morgens um drei Uhr näherten sich die Franken den Schwyzern, welche Arth gegen das Zugerland hin dekten. Bei der Kapelle St. Adrian geschah der wildeste Anfall. Der Strich vom Seeufer bis zum höchsten Gipfel des Rüßberges, die Länge einer halben deutschen Meile, war von beiden Heerhaufen mit einzelnen Posten besezt. Die Franken benuzten augenbliklich jeden Vortheil, welchen ihnen der von den Schwyzern nicht zum besten für Vertheidigung gewählte Plaz bot. Die Schwyzer empfanden Unordnungen; einige Scharfschüzen, die, bei noch unvollkommnen Tageslicht, zu weit vorgeeilt waren, kamen zwischen zwei Feuer, und fielen sowohl durch Schwyzer- als Frankenkugeln. Ueber anderthalb Stunden währte das Gefecht ununterbrochen fort.

Die Franken wankten zuerst. Das lebhafte Feuer der Scharfschüzen erfüllte ihre Reihen mit

*) Den 3. May.

Todten. Sie zogen sich mit aller Eile zurük. Aber die Schwyzer, zu schwach, konnten sie nicht verfolgen. Einige Freiwillige von Walchwylen, Kanton Zug, hatten in diesem Treffen sehr gute Dienste gegen die Franken geleistet. Sie betrauerten 6 Todte; die Schwyzer aber 20, und eben so viele Verwundete.

Kaum war hier der lezte Schuß gefallen, als der Posten von Arth auf der Luzerner Seite bestürmt ward. Eine beträchtliche Abtheilung der 38ten Halbbrigade näherte sich dem Flekken bis auf eine kleine halbe Stunde. Allzuvoreilig brannten die Schwyzer auf der Höhe ihre mit Kartätschen geladnen Kanonen ab. Augenbliklich verschwanden die Franken von der Landstrasse und der Ebne; sie verloren sich in einen seitwärts gelegnen Berg-Tobel (Gebirgs-Spaltung), um von dort her die Anhöhe zu gewinnen.

Die Schwyzer, auf dem Gegenrande des Tobels, in leichten Verschanzungen von Holz und Stein gestellt, konnten Anfangs diese Wendung der durch ein Wäldchen verheelten Franken nicht wahrnehmen. Sie entdekten erst die Gefahr, als der Feind schon ziemlich weit gekommen war.

Da dies die Schwyzer sahn, rannten sie in vollem Lauf, die obersten Höhen zu erreichen. Doch zu spät; die Franken hatten den Vorsprung. — Andre nun wagten sich in den finstern Tobel, um da hindurch gegen die Seite von Arth hinüber zu dringen; die übrigen endlich besezten die untre Erhöhung am Tobel, um die Ihrigen, welche hinüber gehen, oder sich schon jenseits befinden würden, zu unterstützen. Zu dem Ende warfen sie eilfertig kleine Schanzen von Holz und Steinen auf, oder wählten Tiefen und Felsenhänge, um sichrer laden und schiessen zu können. Mancher Schütze unterhielt ein anhaltendes Feuer, aus mehrern ihm von Knaben nachgetragnen und geladnen Flinten. Die Franken schossen mit ausserordentlicher Geschwindigkeit; aber ihre Kugeln hatten keine sichre Richtung. Die Schwyzer feuerten langsam; aber jeder Schuß stürzte unfehlbar seinen Mann.

Nachdem ein Theil der schwyzerischen Mannschaft über dem Tobel unerschrokken aufwärts gegangen war, durch den obern Wald, donnerten sie von den Felsenhöhen auf die Franken herunter. Diese zogen sich seewärts mit grosser Eil aus der

Schußweite. Als dort Offiziers und Soldaten in kleinen Haufen zusammentraten, vermuthlich um zu berathen, was zu thun sey? nahm der Scharfschützen einer dreifache Ladung Pulvers, und sprach zu seinen Gefährten: „was gilts, ich reiche den mittlern von jenen Hauptleuten?“ Die Entfernung war ausserordentlich; man mochte nur kaum die Offiziers an ihren langen Ueberröken von andern unterscheiden. Und der Erzielte stürzte getroffen, in der Mitte der Seinigen, zu Boden. Dieser Schuß ward das Zeichen zum allgemeinen Rükzug der Franken. Sie bezogen wieder bei Oberimmensee die Allmeind, wo sie eine Art Lagers hatten.

Der Verlust fränkischer Seits war gewiß bedeutend; aber man hat ihn nicht erfahren. Viele der Getödteten wurden von den Franken selbst in den See geworfen; andre fand man zwischen Klippen und Gesträuchen zerstreut umher; andre aber nebst allen Verwundeten nahmen sie, nach ihrer Gewohnheit, mit sich fort. Die Schwyzer büßten in diesem glüklichen Gefecht wenig ein. Sie hatten nur drei Todten und zwölf Verwundete.

Als

Als sich das Gerücht verbreitete, daß es an Pulver und scharfen Patronen gebrechen möchte, ehe die Unterstützung aus Schwyz anlangte; wurde sogleich alles in den benachbarten Häusern befindliche Pulver, Blei und allerhand Zinngeschirr von den Eigenthümern mit Freuden herbeigebracht; und ob gleich in grosser Anzahl Kugeln gegossen wurden, war dennoch eine so grosse Menge Zinn und Blei vorräthig, daß noch vieles Zinngeräth zurükgenommen werden mußte.

Die Truppen am rothen Thurm waren in der Nacht vom zweiten zum dritten May ebenfalls beständig unter dem Gewehr, eines Ueberfalles gewärtig. Dies war also die vierte Nacht, welche sie nach fast unglaublichen ausgestandnen Mühseligkeiten, eine nothwendige Wirkung des Mangels an Mannschaft, und der Strenge des Dienstes, geduldig durchwachten. In dieser Nacht hieng jedermann in finsterm Stillschweigen seinen Gedanken nach. Jeder übersann die neuern Begebenheiten. Ueberall mit Glük gefochten, kosteten die einzelnen Siege dennoch im Ganzen an jedem Tage schier 100 Todte und der Verwundeten viele.

Es lies sich leicht berechnen, daß binnen 14 Tagen bei gleichem Glük die Schwyzer an ihren Siegen sterben müßten. Zwar waren die Päße beim rothen Thurm, auf der Schorno und in Arth wohl beschirmt; aber wer konnte die Franken, seit der Räumung des Ezels Meister von Einsiedeln, abhalten, über die Haggen- Yberger- und Holz-Egg, nur noch von Weibern bewacht aus Mangel an Männern, vorzudringen gegen Schwyz, und das ganze Land mit ihren Schaaren zu überschwemmen?

---

5.

Diese Betrachtungen beschäftigten das Volk in der Nacht; einer theilte sich dem andern mit, als der Morgen dämmerte, und, wie die Gebirgslandschaft aus ihren Nebeln, auch jedes Gemüth aus schweren Träumereien stieg. Bald ward es zur Frage: ob nicht unter solchen Verhältnissen durch ehrenvolle Kapitulation mehr, als durch fruchtlosen Widerstand gewonnen werden könnte?

Es ist unmöglich zu beschreiben, wie heftig, wie verschieden die Meinungen über diese Fragen fielen. Alles gerieth in stürmische Bewegung.

Indem keiner dieſen Morgen und dieſe Frage unter dem Schwyzerheer erlebt zu haben wünſchte, fürchtete jeder Stimmenmehrheit für Kapitulation und ſich ihr unterziehn zu müſſen, jeder die Gewalt der Liebe und Lebensluſt über ſeinen heldenmüthigen Entſchluß.

„Nein, ſchrien hunderte: Laßt uns ſterben! ſterben! — alle einmüthig in den ſüſſen Tod ums Vaterland gehn! —“ Andre, welche nach gleichem Ziele ſtrebten, aber durch mildere Darſtellung deſſelben leichter dafür zu bereiten hofften, riefen: „Wir wollen ſo lange gehörlos ſeyn für Kapitulation, bis zwei Drittel von uns da am Morgarten hingeſtrekt liegen, wo unſre Väter ruhn. Dies Opfer iſt ja nicht zu groß für ihr Andenken, für unſre Nachkömmlinge, und für die Freiheit! —“ Viele Hausväter ſanftern Sinns, ihre Gattinnen und Kinder im Herzen und Gedächtniß, ſprachen: „Brüder, überleget wohl, was ihr thut! Der Tod unſrer Ahnen an eben dieſem Ort war freilich Sieg für das Vaterland und die Freiheit; aber jezt wären bei gleichem Muth und Zwek

Sieg und Tod vergebens. Und würden wir alle Leichen, so würden die noch von uns unbesiegten übrigen Franken, — und ihre Zahl ist groß! — über unsre und ihrer Brüder Leichname gehn, und unsre Heimath mit doppelter Wuth zerstöhren, Weiber und Kinder mishandeln, und die Thäler mit Mord und Brand füllen. Unser Tod hätte nicht das Unglük gemindert, wohl aber gemehrt! —"

Andre, obschon sie die Staatsumwälzung längst für nothwendig, doch durch die Hand eines fremden Volks für schändlich und gefährlich gehalten, erhoben nun auch ihre Stimmen mit freierm Muthe: „Sichert eine Kapitulation uns Religion und Eigenthum, schirmt sie unsere Heimath vor Brandschatzung, so mögen wir uns getrost mit unsern andern Schweizerbrüdern vereinen zu einer Familie und einem Freistaat. Denn büssen wir nicht unsre Freiheit ein, sondern wir vertauschen nur die alte Regimentsart gegen eine neue; wir bleiben dieselben. Kein Fürst, kein Vogt beherrscht uns; wir sind Keines Unterthan; wir setzen uns unsre Obrigkeit, nach, wie vor. Bedenket es wohl!"

Nach vielem Widerspruch und Lermen neigten sich die meisten den Gesinnungen der leztern zu, und die Mehrheit des Volkes begehrte, erschöpft an Kraft, und im wehmüthigen Gefühl von Wünschen, für ihre Macht unstillbar, Schauenburgs Anträge zu hören.

Aloys Reding, der Landshauptmann, schrieb, da sich das Volk erklärt hatte, durch den Hauptmann Büeler an den fränkischen General Nouvion, im Kloster zu Einsiedeln, und verlangte einen Waffenstillstand. Gegen Abend kam Büeler mit folgender Antwort zurük:

## An den Kommendant der Schweizertruppen.

In der Abtei Einsiedeln, den 14. Floreal, im 6. Jahr der einen und untheilbaren französischen Republik.

Ich habe, Herr Kommendant, Euren deutschen Brief erhalten, und solchen mir übersetzen lassen. Um Euch zu beweisen, wie sehr die Franken Menschlichkeit lieben, so sende ich Euch Euren Offizier zurük, damit Ihr meine Bedingungen vernehmet.

1. Eine halbe Stunde nach Empfang dieses Briefs, werden die Truppen des Kantons Schwyz die Waffen niederlegen, solche an einen französischen Offizier abgeben, der hierzu ernannt wird, mit mündlicher Versicherung vom General, daß dieselben im Land an einem Ort sollen zusammengestellt werden.

2. Das Volk des Kantons Schwyz wird ohne Zweifel die helvetische Konstitution annehmen. Ich gebe dem Obergeneral den Bericht über den Empfang Eures Briefs, und der Antwort, so ich Euch ertheile.— Die Stellung der fränkischen Armee und die Eurige werden Euch, ohne Zweifel, es dringend machen, daß die Vorschläge angenommen werden, die ich Euch thue.

Der Brigade-General Rouvion.

Ehe noch Büeler dies Schreiben gebracht hatte, waren am Nachmittage plözlich die Hülfsvölker von Uri zum Rükzug in ihre Heimath aufgebrochen. Sie hatten die Gränzposten bei Schorno bisher besezt, und nun ganz wehrlos gelassen. Die Schwyzer beim rothen Thurm mußten durch eine starke Abtheilung dahin jene Stellen dekken und sich selbst schwächen.

Dieser unvermuthete Abzug trug nicht wenig dazu bei, das Volk immer geneigter zum Unterhandeln zu machen. Sobald den Truppen nun Rouvions Brief verlesen war, begehrten sie, daß man den Waffenstillstand unmittelbar vom Oberbefehlshaber für vier und zwanzig Stunden fodern sollte, damit sich das gesammte Volk zur Landsgemeinde versammeln könne; auch solle dem Oberbefehlshaber der allgemeine Wunsch geäussert werden, daß den Schwyzern neben Sicherheit der Religion, der Personen und des Eigenthums, auch Schonung von fremden Besatzungen zugestanden werde.

Darauf schrieb der Landeshauptmann an Schauenburg:

Bürger General!

Es kann Eurer klugen Einsicht nicht entgehen, daß alle Gewalt dieses Kantons in den Händen des Volks liegt; und folglich die Berathschlagung über den Gegenstand Eures heutigen Schreibens vor unsere Volksversammlungen kommen muß. Da aber der kurze Termin uns nicht genug Zeit gestattet, eine solche Volksversammlung zusammen zu berufen, so geht mein Ansuchen im

Namen meiner lieben Landsleute dahin, daß Ihr uns den Termin um 24 Stunden verlängern und dieses arme Land mit Besatzung verschonen möchtet.

3. May 1798.

Aloys Reding.

Zum andernmahl gieng Hauptmann Büeler mit diesem Schreiben und mehrern mündlichen Aufträgen nach Einsiedeln. Dort war inzwischen der fränkische Oberbefehlshaber Schauenburg angekommen. Folgende Kapitulationspunkte wurden abgefaßt, und zurükgebracht:

Im Generalquartier zu Einsiedeln, den 14. Floreal, im 6. Jahr der fränkischen einen und untheilbaren Republik.

Der Obergeneral der Armee in der Schweiz hat durch Gegenwärtiges an Herrn Aloys Reding, Kommendant von den Truppen des Kantons Schwyz, erklärt: daß die katholische Religion, welche der Kanton bekennt, unbetastet verbleiben soll, weil die helvetische Konstitution, welche durch die Mehrheit von der Schweiz angenommen worden, ausdrüklich die Freiheit des Gottesdienstes zusichert.

Von seiner Seite verpflichtet sich der Kanton Schwyz, die Konstitution in 24 Stunden anzunehmen. Mittelst dieser Verpflichtung verspricht der Obergeneral, mit allen Feindseligkeiten während diesen 24 Stunden einzuhalten, und in allen Theilen des Kantons, welche durch die fränkische Armee noch nicht eingenommen worden, diejenigen Waffen, die sie besitzen, zu lassen.

Der Kommendant der Truppen des Kantons Schwyz verpflichtet sich hingegen, sich in das Innere zurük zu ziehen, und keine Feindseligkeiten zu unternehmen, bis das versammelte Volk seine Stimme über die Konstitution gegeben. Der Beschluß dieser Volksberathung soll sogleich dem Obergeneral der fränkischen Armee mitgetheilt werden.

Gegenwärtige Uebereinkunft ist doppelt verfasset, und wechselseitig durch den Obergeneral, und durch Herrn Büeler, welcher von den Kommendanten von Schwyz hiezu bevollmächtiget, unterschrieben worden.

Schauenburg.

Büeler, Hauptmann.

In der Nacht vom 3. zum 4. May wurden diese Artikel dem unter den Waffen stehenden Volk beim rothen Thurm vorgelesen, dann dem ganzen Land in möglichster Eil kund gethan, mit dem Beifügen, daß um 11 Uhr Mittags jeder bei seinem Eid zur Landsgemeinde gen Schwyz aufgeboten sey.

Es geschah. Gegen Mittag erschienen die Krieger von Morgarten, vom rothen Thurm und der Schorno in Schwyz. Nur die von Arth, welche die beiderseitigen Seeufer von Zug und Luzern besezt hielten, wollten ihren Posten nicht verlassen, auch konnten sie sich ausserdem nicht zur bestimmten Zeit einfinden.

---

## 6.

Es ward der gewöhnliche Landsgemeinden-Kreis gezogen. Es war ein fürchterlich-feierlicher Anblik. Alles war bewaffnet, wie jedes so eben vom Schlachtfelde kam; die einen mit Kriegsröhren, die andern mit Stuzern, viele mit Speeren, viele mit Morgensternen und Keulen. In jedem Angesichte las man die Empfindungen der

Seele; man sah, wie gekränkter Stolz, Wehmuth, furchtlose Entschlossenheit, kaltblütige Ueberlegung, wilde Verzweiflung in allen wechselten und haderten.

Nach einer kurzen, zwekmässigen Rede des Alt-Landamman Schueller, der diesmahl die Gemeinde führte, wurde das gewöhnliche Gebet verrichtet, und alles flehte inbrünstig zu Gott um Gnad und Erleuchtung. Welch ein Anblik, dieser Kreis von bewaffneten Betern, mit den stürmischen Herzen, und bleichen Gesichtern!

Dann wurde die obige Kapitulation vorgelesen. Hauptmann Bücler erzählte zugleich, daß General Schauenburg ihm mündliche Versicherung gegeben, aus dem Kanton Schwyz keine Mannschaft ausheben, und keine Brandschatzung fodern zu wollen. Darauf nahm der Landeshauptmann Aloys Reding das Wort. Er schilderte die bisherigen Vorfälle, die Stellung der fränkischen Armee, und die der Schwyzer, den Rükzug der Urner, und das Ausbleiben von 400 Unterwaldnern, welche zwar an diesem Morgen nach Brunnen schon zur Hülfe von Schwyz gekommen, aber nach erhaltner Nachricht, daß man im Ka-

pituliren begriffen sey, wieder nach Hause gezogen wären. Er schloß also mit der Ermunterung, die Kapitulation anzunehmen.

Jezt erschien ein Brief, geschrieben an das Volk von einem seiner ehrwürdigsten Hirten, dem Decan Tanner, in welchem dieser rechtschaffne Greis seine Gesinnungen folgendermassen ausdrükte:

Getreue, herzliebe Mitlandsleute und Brüder!

In gegenwärtigen so gefährlichen Umständen meines und Eures lieben Vaterlands, da ich wegen Alters und schwachen Kräften ausser Stande bin, vor Euch persönlich zu erscheinen: so finde ich mich durch mein Gewissen verbunden, mit Euch schriftlich zu sprechen; vernehmet also die Gesinnungen eines zwar unwürdigen Priesters, der aber schon 52 Jahr in diesem Land verpfründet, und wie den meisten aus Euch nicht unbewußt, für Religion und Vaterland immer gethan hat, was in seinem Vermögen war. Herzliebe Brüder, lasset doch um Gottes willen in dieser mißlichen Lage gesunde Vernunft und Geduld walten; wollt Ihr dann, von allen unsern Brüdern verlassen, durch ferneren blutigen Widerstand Euch

Euren Weib und Kindern, und mit Euch denselben Trost und Erziehung entreissen? folglich Euch und das Vaterland noch unglüklicher machen? Ach liebste Brüder, von zwei anscheinenden Uebeln ist das kleinere zu wählen. Seyd Ihr für Eure Religion, für Person und Eigenthum so viel möglich versichert: so thut und schließt nach jetzigen Umständen. Hoffet und vertrauet auf Euren Gott und noch waltende Menschenliebe. Seyd einig und verschaffet Euch Ruhe und Frieden.

Dieses rathe und bitte ich Euch auf mein Gewissen und Leben.

Muttathal, den 4. May 1798.

Seb. Anton Tanner,
unwürdiger Decan und Pfarrer.

Bisher war das Volk ruhig geblieben; als man nun aber zum Abschliessen gehn wollte, erhob sich rings umher ein dumpfes Murmeln, welches mit jedem Augenblik steigend zum wildesten Getöse überlief. Die Meinungen waren im Kampf. Es war das lezte, gewaltsame Ringen zwischen Nothwendigkeit und Neigung, Neuerung und Alterthum in jeder Brust; die lezte Krisis

eines mehr als dreihundertjährigen Staatskörpers, der nun der Auflösung nahe war.

Man sprach von dem, was die Vorwelt gethan für Freiheit; was Pflicht noch jezt heische; man berechnete, was man verlöre mit einer Landesverfassung, die seit Jahrhunderten Freiheit und Frieden gewährte, gegen den Gewinn einer neuen Verfassung, die man nicht kannte; man verglich das Vergangne mit dem Künftigen, das Gewisse mit dem Ungewissen. Einige fürchteten in der neuen Konstitution den Untergang aller Religion; andre erinnerten an den feierlichen Eid, lieber zu sterben, als die Verfassung zu ändern; andre gedachten der bisher erfochtenen Siegen; andre, daß man den Franken nicht vertrauen dürfe.

Die Verschiedenheit der Gründen und Begriffen vermehrte die Hitze. Das Schreien und Toben dafür und dagegen ward allgemein. Umsonst suchten die Gelassenern Herstellung der Ruhe. Man wollte keinem Rath, keiner Vorstellung weiter Gehör geben. Viele giengen ausser der Gemeinde, um ihren Schmerz freier austoben zu lassen.

Diese Verwirrung, dieser Sturm, der alle Berathschlagung hemmte, hatte schon eine halbe Stunde gedauert. Viele drohten einander mit geschwungnen Säbeln, andre zielten mit geladnen Gewehren. Rings von Feinden umgeben, schien das erbitterte Volk jenen die Mühe erleichtern und sich selbst vernichten zu wollen.

Endlich erhob sich auf der Bühne der Chorherr Schueller, ein Mann geachtet beim Volk, wegen seines treuen Biedersinns und untadelichen Wandels. Es war aber die Sitte dieses Volks, daß, wenn ein Geistlicher zu ihm redete, jedermann das Haupt entblössete. Also geschah es von den Nächststehenden, und pflanzte sich fort; Schueller benuzte die beginnende Stille, und sprach mit männlichem Ernst und Schmerz:

„Meine herzliebe Mitlandsleute, wenn jemahls brüderliche Eintracht, und gelassene Ueberlegung nöthig gewesen, so ist es gewiß jezt. Aber es ist hier nicht die Frage: ob die alte oder neue Schweizer-Verfassung besser sey, sondern ob man fernern Krieg, oder die Kapitulation wähle? Ihr kennet unsre Lage; ihr wisset, Muth und Tapferkeit mögen unsre Verfassung nicht mehr retten;

der Mangel an Mannschaft macht die anhaltende Vertheidigung unsers Vaterlandes unmöglich. Dies war die Ursach, warum ihr selbst gestern die Kapitulation fodertet. Der fränkische Oberbefehlshaber gab sie und ehrenvoll für euch. Religion und Eigenthum sind durch sie behütet.“

„Ihr sagt: wir haben geschworen, lieber den Tod, als die Konstitution! Fern sey Meineid! — Wir haben aber geschworen, im Glauben, daß die neue Konstitution unsrer Religion gefährlich sey. Seitdem die Kapitulation uns unsre Religion unverlezt zusichert, fällt jener Grund, deswillen wir schwuren, hinweg. Denn sagt die Konstitution das Gleiche, so dürft ihr sie ohne Gewissensbeschwerde annehmen. Redet sie anders, so bleibt ihr bei der Kapitulation.“

„Ihr sprecht: man darf den Franken nicht trauen! — Ist dies euer Ernst? Leget ihr nicht in eben diesem Augenblik den größten Beweis eures Vertrauens gegen die Franken ab, indem ihr, auf ihr Ehrenwort bauend, hier berathschlaget, inzwischen eure Gränzen nun von allen Seiten unvertheidigt offen stehn, und eure Kanonen

und

und Munition nur von kleinen Wachten behütet, binnen wenigen Augenblikken von den Franken genommen seyn könnten? Ein solches Zutrauen auf sein Versprechen hat das fränkische Volk gewiß noch nie empfahn. Wenn ihr nun euch mit so vieler Zuversicht auf ihr Versprechen verlasset, da sie noch Feinde und so nah' an unsern Gränzen sind; warum solltet ihr ihnen nicht vertrauen, wenn sie von uns entfernt, und unsre Freunde sind?"

„Es sind nur noch wenige Stunden vom Waffenstillstand übrig. Hinweg mit Leidenschaft und Partheigeist; Vernunft und Gelassenheit dafür. Wollet ihr Krieg: wohlan so verliert keine Zeit! Jeder eile an seinen Posten, das Vaterland zu vertheidigen. — Wollt ihr aber dem Blutvergiessen ein Ende, wollt ihr durch die Kapitulation eure Religion, Person und Besitzung schirmen, so zögert nicht, dem fränkischen Befehlshaber die Anzeige zu machen, auf daß alle Feindseligkeiten eingestellt, die Hausväter ihren Kindern, die Kinder ihren Eltern, die Männer ihren bekümmerten Ehefrauen wiedergegeben werden. Der Allmächtige leite eure Gesinnungen, segne eure Beschlüsse!"

Dreimahl wurde Schueller, indem er also redete, vom Getümmel des Volks unterbrochen, und immer wieder zur Fortsetzung aufgefodert. Endlich ward alles still; der Sturm legte sich; jeder hörte aufmerksam den Vorstellungen zu. Man schritt zur Entscheidung der grossen Frage, und die Kapitulation wurde wirklich mit grosser Einmüthigkeit angenommen. Nur kaum hundert Männer stimmten dagegen.

Man erwählte sogleich vier Deputirte, welche folgenden Morgens zum General Schauenburg reisen sollten. Die fernern Geschäfte zu berichtigen übertrug man einem Ausschuß.

Noch an demselben Abend ward folgendes Schreiben an Schauenburg gesandt:

Bürger General!

Wir haben aus den an unsern Mitbürger Aloys Reding von Euch erlassenen Schreiben die feierliche Zusicherungen von der freien Ausübung unsrer Religion, Sicherheit der Person, Beibehaltung der Waffen und des Eigenthums zu unserm Vergnügen bei unsrer allgemeinen Versammlung ersehen.

Ueberzeugt und verg'wissert von den menschlichkeitsliebenden Gesinnungen, die Euch und die ganze französische Nation auszeichnet, haben wir auf diese Bedingnisse die neu-helvetische Verfassung anzunehmen beschlossen; und die Bürger Aloys Reding, Jakob Lastell, Major Büeler und Sekretär Anton Ulrich aus unsrer Mitte ernannset, welche sich Morgens bei Euch, Bürger General, einfinden, unsern Beschluß mündlich anzeigen, und sich mit Euch noch weiter besprechen sollen. Euerm Auftrag zufolge haben wir dem Kanton Uri Eure Willensmeinung zu wissen gethan; nur ersuchen wir Euch, alle Feindseligkeiten gegen unser Land einzustellen, und die Truppen ab unsern Gränzen zurük zu ziehen, so wie wir es bereits gethan und befohlen haben. Wir schmeicheln uns von der gütigen Aufnahme unsrer Abgeordneten, und unter freundschaftlicher Begrüssung verbleiben wir mit aller Hochschätzung,

Schwyz, den 4. May 1798.

Bürger General!

Im Namen des Volks vom Kanton Schwyz,

Unterz.: Büeler, Landsstatthalter.

Ulrich, Sekretär.

Das Schreiben des Generals Schauenburg, betreffend den Kanton Uri, von welchem in obstehendem Briefe Meldung geschieht, und welches während der Landesgemeinde eintraf, lautet so:

Im Hauptquartier zu Einsiedeln, den 15. Floreal, im 6. Jahr der fränkischen einen und untheilbaren Republik.

## Der Oberbefehlshaber der Armee in Helvetien an Herrn Aloys Reding.

Mein Herr!

Ich bin verg'wissert, daß die Truppen des Kantons Uri mit den Eurigen vereinigt waren, um sich mit den fränkischen Truppen zu schlagen, und da ich mit Euch unterhandle, so hab ich vernehmen müssen, daß das, was mit Eurem Kanton gemacht wurde, auch für die andern gemacht seyn soll. Ich bilde mir nicht ein, daß der Kanton Uri sich einzeln geben, und verdrüßliche Ereignisse zuziehen wolle; ich bitte Euch also, mein Herr, ihm diese Erklärung zu wissen zu thun, die auch auf den Kanton Uri anwendbar ist; und im Fall, welches ich nicht vorsehen kann, daß derselbe es abschlagen würde, sich der Vollziehung der von Euch angenommenen Bedingnisse zu unter-

ziehen: so muß ich Euch preveniren, daß die unter meinem Befehl stehenden Truppen sich in den Kanton Schwyz begeben werden, um dorthin zu kommen.

Der Durchzug derselben soll Euch aber nicht beunruhigen. Mein Herr, Personen und Eigenthum sollen respektirt und dieser Vertrag heilig beobachtet werden. Ich bitte Euch, mir alsobald Euren Beschluß wissenhaft zu machen; ich wünsche nur, daß der Menschlichkeit, und des größten Glüks des schweizerischen Volks willen, der angefangne Krieg bäldest aufhören möge.

Ich bin, mein Herr, mit vollkommner Achtung,

Ihr

gehorsamer Diener

Schauenburg.

---

7.

Die Franken zogen sich von den Gränzen des Kantons Schwyz zurük, gemäs der abgeschlossenen Kapitulation. Weit entfernt, Erbitterung gegen diese Bergvölker zu nähren, ehrten sie die Tapfer-

keit derselben. Selbst Schauenburg, welcher Anfangs mit der Sprache der Verachtung von ihnen geredet, und die Anführer des Volks mit Leben und Gut für alle Folgen der Widersezlichkeit verantwortlich erklärt hatte, war gezwungen, ihnen seine ungeheuchelte Achtung zu weihen. Er bekannte dies in öffentlichen Briefen; er wurde der persönliche Freund des schwyzerischen Landshauptmanns Aloys Reding, des Feldherrn der Hirten-Krieger, den er nicht besiegt hatte. *)

Der Verlust der fränkischen Truppen in dem Kampf gegen die Waldkantonen war verhältnißmässig ungemein groß. — Wie die leztern ihre Todten zu hunderten zählten, zählten die Franken sie zu tausenden. Nur wie man aus bestimmten Nachrichten von Luzern erfahren, belief sich ihr Verlust auf die Summe von 2754 Todten. Die Zahl ihrer Verwundeten hat man nie mit Gewißheit entdekt. Sie muß wahrscheinlich die der Todten übersteigen haben. Die Truppen der Wald-

*) Die Anekdote, welche Herr Pfeffel von Schauenburg und Aloys Reding erzählt, daß beide sich kekke Grobheiten gesagt, falls einer dem andern während des Kriegs in die Hände gefallen wäre, ist durchaus unwahr.

kantone büßten, wie man aus den umständlichen Gemeindsregistern erkennt, in allem 236 Todte ein, und zählten nur 195 Verwundete.*) Dies Misverhältniß der Verwundeten zu den Todten von Seiten der Waldstätter läßt sich nur aus der Wuth erklären, mit welcher die Eidsgenossen fochten. Die Verwundeten achteten ihrer Wunden nicht; sie blieben im Kampfe, gaben und foderten keinen Pardon, und wehrten sich noch halbsterbend am Boden, um nicht die Schmach zu überleben, in fränkischer Gefangenschaft zu seyn. Frei geboren, wollten sie frei sterben. Es war ihnen süs, mit ihrem Blute die unbezwungne vaterländische Erde zu netzen, und da ihr Sterbebette zu wissen, wo ihre Helden-Väter glorreich gestorben waren.

Kein Monument verewigt ihren Muth, ihre Namen. Aber, so lange die rauhen Felsen der Schindelleggi stehn, so lange die stillen Fluren von Morgarten grünen, wird man ihrer Thaten eingedenk seyn, welche den Namen der Schweizer wieder ehrenvoll und die Nachkommen Wilhelm Tells ihrer Altvordern werth machten.

*) Siehe die Liste der Todten und Verwundeten.

Die Schwyzer blieben bei den Bezeugungen der Achtung nicht unempfindlich, welche ihnen die fränkischen Feldherrn gaben. Die aus sieben Gliedern bestehende provisorische Regierung von Schwyz machte es zur ersten Beschäftigung, dem General Schauenburg ihre Erkenntlichkeit im Namen des Volks zu äussern. Ihre zweite Sorge aber war's, den verwundeten Brüdern, den Witwen und Waisen, oder den armen Eltern der umgekommenen Vaterlandsvertheidiger Hülfe und Erquikkung zu schaffen. Es wurde zu dem Ende schon am achten May eine allgemeine Steuer ausgeschrieben, welche freiwillig gegeben werden sollte, und nachmahls verhältnißmässig an die Hülfslosen vertheilt wurde.

Einen rührenden Beweis treuer Anhänglichkeit und Liebe gaben noch jezt, da auch das Schikfal des Kantons Schwyz entschieden war, die Ehmahls-Angehörigen von der Landschaft der beiden Höfe Pfäffikon und Wollerau. Wiewohl sie jezt von Schwyz, ihrem ehmahligen Oberherrn, nichts mehr zu hoffen und zu fürchten hatten, giengen sie doch den Oberbefehlshaber Schauenburg inständig an, daß sie noch ferner mit Schwyz

vereinigt bleiben möchten. Eben dies baten sie mit Herzlichkeit von Schwyz selbst. — Schwyz, bewegt durch so viel Treue, verwandte sich um die Erfüllung solches Wunsches sowohl beim Franken-General, als bey dem helvetischen Direktorium. Schauenburg fand die Bitte gründlich, aber es war nicht in seiner Gewalt, zu willfahren; und die helvetische Regierung fand es, bei einmahl bestimmter neuen Kantons-Eintheilung, unthunlich.

Schwyz genos also noch in den lezten Stunden seiner Selbstständigkeit eines Vergnügens, dessen sich vielleicht kein andrer Stand der zerstöhrten Eidsgenossenschaft rühmen konnte, daß nämlich zur Zeit der äussersten Gefahr die Ehmahls-Angehörigen sich ihrem bisherigen Herrn anschlossen, um von ihm das Schwerdt des Feindes abzufangen, und mit Blute den Beweis der Dankbarkeit, der Treue und Zufriedenheit zu besiegeln. Küsnacht hatte sich vertheidigt, so lange Schwyz nur immer noch eine Hoffnung von Unterstützung geben konnte. Die Landschaft March hatte mit 800 Mann die Gränzen gegen Zürich treu gedekt. Die biedern Einwohner der Höfe hatten sogar ihre Habschaft und Heimath verlassen, um noch

selbst in dem Augenblikke mit ihren alten Oberherrn vereint zu bleiben, da die Franken schon Meister ihrer Landschaft waren. — Die Einsiedler, vielleicht unter allen das entschlossenste und muthigste Volk, würden gewiß für Schwyz alles gewagt haben, wären sie nicht durch die niederträchtige Furcht oder Bosheit ihres schändlichen Führers am Ezel verführt worden.

Dies ist die Geschichte vom Kampf und Untergang der schweizerischen Berg- und Waldkantonen. Der lezte von ihnen, Schwyz, erlag, gemäs seinem durch ein halbes Jahrtausend behaupteten Charakter. Treu seinen Bundespflichten, stolz auf Freiheit und Vaterland, war er der erste, welcher den Krieg für Unabhängigkeit unter den Eidsgenossen gegen Oesterreich, und auch der lezte, welcher ihn gegen Frankreich führte. Er verschmähte Ruhm ohne Tugend; und zog die Ehre des Vaterlandes dem Tode vor.

Europa hat den Muth der Hirtenvölker bewundert und ihren Fall beklagt.

PLAN des WALDSTÄDTER KRIEGS
im Jahr 1798.
Erklärung der Zeichen
Stellung der Franzosen
Stellung der Schweizer
Gefechte
Gränz linien der Cantone
Strassen
Gezeichnet und Graviert von
J. Sam. Weibel 180.
ZURICHER SEE
CANTON ZUG
ZUGER SEE
CANTON SCHWEIZ
WALD-STADT EINSIEDLEN
LUZERNER oder VIER WALDSTÄDTER SEE
BURGEN BR.
HAKEN BR.
MITTEN BR.
HOCHE ROHNEN
die HOEFE
Obere MARCH
Untere MARCH
BUCH BERG
EGERI SEE
LAUERZ SEE
WEDENSCHWEIL
RICHTENSCHWEIL
RAPPERSWEIL
UZNACH
LUCERN
ARTH
SCHWEIZ
BRUNEN
GERSAU
BUECHS
STANZ
KUSSNACHT
BARR
Zug
Einsiedlen
St. Johan
Altendorf
Lachen
Nuelen
Wangen
Galgenen
Schubelbach
Richenburg
Freymenbach
Pfeffikon
Feusisberg
alt Rappersweil
Luzelau
Uznach
Grynau
Tuggen
Schmerken
Eschenbach
Kempraten
Schirmensee
Uriken
Wedenschweil
Richtenschweil
Hurden
Uffnau
Wolrau
Schindellegi
Aetzel
Bennau
Biberek
Sattel
Sulzmatt
Egeri
Hütten
Schönberg
Hinterstalden
Stalden
Menzingen
Schwand
Nuwen
Walterswil
Hirzel
Capell
Knonau
Mettmenstetten
Rifferschwyl
Boffau
Steinhusen
Blickendorf
Deinikon
Egwyl
Rumeltikon
Meyenberg
Appel
Hochrein
Wangen
Buchrain
Ebikon
Adligenschwil
Mörlischachen
Altstadt
Horw
Winkel
Kriens
Matt
Fiziau
Burgen
St. Antoni
Hergiswyl
Stanzstad
Winkelried
Wyl
Emmetten
Beroldingen
Sissigen
Treib
Morschach
Ingelhol
Schönenbach
Seven
Lauerz
Goldau
Seinerberg
Steinen
Iberg
Klönthal
Mutten
Ilgau
Weggithal
Hinter Weggithal
au Thal
Klönthal
Schwanau
Biberfl.
Linth Fl.
Wagen
Bol
Wurmsbach
Ober Bolingen
Burg
Rigi Fl.
Rothe See
Alp Fl.
Reuss Fl.
Lauerz See
Zuger See
Vierwaldstädter See
Lieue de Berne

dingen
Sissigen
SEE

BRIGHAM YOUNG UNIVERSITY
3 1197 21950 3619

# Date Due

All library items are subject to recall at any time.

| | | |
|---|---|---|
| JUL 0 8 2019 | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |

Brigham Young University